

Notes
M.A-Political Science
Semester -2
Indian Government & Politics
Sub Code- 24POL202DS02

Syllabus

Indian Government and Politics

Sub Code: 24POL202DS02

Unit 1:

Federalism: Theory and Practice in India Demands of State Autonomy and Separatist Movements, Emerging trends in Centre-State Relations.

Unit 2:

Judiciary: Supreme Court, High Courts, Judicial Review, Judicial Activism including Public Interest Litigation cases, Judicial Reforms

Unit 3:

Political Parties, Pressure Groups, Public Opinion, Media, Peasant

Unit 4:

Caste, Class, Gender, Dalit and Regional Issues; Problems in Nation-Building & Integration, Panchayati Raj.

Unit-I

भारतीय संघवाद (INDIAN FEDERALISM)

संघवाद का शाब्दिक अर्थ (LITERAL MEANING OF THE TERM FEDERALISM) : संघवाद शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द "फैडरलिजिम" (Federalism) का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा का शब्द फैडरलिजिम लातीनी भाषा के शब्द "फोर्डस" (Foedus) से । लातीनी भाषा में फोर्डस (Foedus) शब्द का अर्थ एक सन्धि (Treaty) होता है।

संघ : जब दो या दो से अधिक राज्य मिलकर एक संधि या समझौते के माध्यम से एक नए राज्य का निर्माण करते हैं, तो इस प्रकार बनने वाले राज्य में संघ कहा जाता है। इस संधि से केन्द्र और राज्य सरकार के बीच शक्तियों का विभाजन भी किया जाता है।

संघवाद की परिभाषा (Definition of Federalism)- डॉ० गार्नर के अनुसार, "संघीय प्रणाली एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें केन्द्रीय और स्थानिक सरकार एक साझी प्रभुसत्ता के अधीन होती है। केन्द्र और स्थानिक संस्थाएं अपने निश्चित क्षेत्र में सर्वोच्च होती हैं जो एक संविधान द्वारा निश्चित किया जाता है या संसद् के उस कानून द्वारा जिसने प्रणाली उत्पन्न की है।"

प्रश्न –

भारतीय संविधान संरचना में संघात्मक परन्तु वस्तुतः एकात्मक है

(THE INDIAN CONSTITUTION IS FEDERAL IN STRUCTURE BUT UNITARY IN SPIRIT)

अथवा

भारतीय संघवाद का स्वरूप (NATURE OF INDIAN FEDERALISM)

अथवा

भारतीय संविधान अर्द्ध-संघात्मक है (THE INDIAN CONSTITUTION IS QUASI-FEDERAL)

अथवा

भारतीय संविधान संघात्मक और एकात्मक विशेषताओं का मिश्रण है

(INDIAN CONSTITUTION IS A COMBINATION OF FEDERAL AND UNITARY FEATURES)

अथवा

भारत अनोखी किस्म का भारतीयों की परिस्थितियों के अनुसार एक संघ है

(INDIA IS UNIQUE FEDERATION ACCORDING TO THE PARTICULAR SITUATIONS OF INDIA)

(इन सभी प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित है)

संघात्मक विशेषताएं (FEDERAL FEATURES)

भारतीय संविधान की संघात्मक विशेषताएं इस प्रकार हैं-

1. **दोहरी शासन प्रणाली (Dual Polity)**- भारतीय संविधान द्वारा दोहरी शासन प्रणाली की स्थापना की गई है। भारतीय

संविधान के अनुसार भारत राज्यों का संघ है। इसमें 28 राज्य और 8 संघीय क्षेत्र (Union Territories) हैं। राज्यों के शासन का संचालन भारतीय संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार किया जाता है। संघ क्षेत्र का शासन प्रबन्ध संसद् द्वारा लिखित कानून अनुसार किया जाता है।

2. शक्तियों का विभाजन (Division of Powers) : केन्द्र तथा राज्य के मध्य शक्तियों का विभाजन संघीय सरकार की मुख्य विशेषता है। राष्ट्रीय महत्त्व वाले विषय केन्द्र को तथा स्थानीय महत्त्व के विषय राज्य सरकारों को सौंपे जाते हैं। भारत का संविधान संघीय सरकार की कसौटी पर पूरा उतरता है क्योंकि इसमें शक्तियों का विभाजन इसी आधार पर किया जाता है। भारतीय संविधान में तीन सूचियां अंकित हैं-

(i) संघ-सूची (Union List)-97 विषय (ii) राज्य-सूची (State List)-66 विषय एवं (iii) समवर्ती सूची (Concurrent List)- 47।

संघ सूची में अंकित विषयों पर केवल केन्द्रीय सरकार कानून बना सकती है तथा राज्य सूची के विषयों पर राज्य विधान सभाएं कानून बना सकती हैं। अनुवर्ती सूची के विषयों पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों दोनों को कानून बनाने का अधिकार है, परन्तु यदि राज्य सरकार का बनाया हुआ कानून केन्द्रीय सरकार के कानून का विरोध करता है तो केन्द्रीय सरकार का कानून लागू किया जाएगा तथा राज्य सरकार का कानून उस सीमा तक रद्द समझा जाएगा जिस सीमा तक केन्द्र के कानून का विरोध करता है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट शक्तियां (Residuary Powers) भी केन्द्र को प्रदान की गई हैं।

3. लिखित संविधान (Written Constitution) : संघीय राज्य में अलिखित संविधान कुशल प्रशासन की स्थापना नहीं कर सकता क्योंकि संघात्मक राज्य में केन्द्र तथा राज्यों की शक्तियों का विस्तृत एवं लिखित रूप में वर्णन होना अनिवार्य है। ऐसा करने से ही केन्द्र तथा राज्यों के परस्पर विवादों को संविधान के अनुसार सुगमता से निपटाया जा सकता है। भारतीय संविधान अमेरिका, स्विट्जरलैंड, फ्रांस आदि देशों के संविधानों की तरह लिखित संविधान है।

4. कठोर संविधान (Rigid Constitution)-संघीय सरकार में संविधान कठोर होना चाहिए ताकि केन्द्र या राज्यों में शासक दल अपने हितों की पूर्ति के लिए उसमें सुगमता से परिवर्तन न कर सके। भारतीय संविधान यद्यपि अमेरिका के संविधान की तरह कठोर तो नहीं है परंतु वह इंग्लैंड के संविधान की भान्ति इतना लचीला भी नहीं है।

5. संविधान की सर्वोच्चता (Supremacy of the Constitution)- संविधान की सर्वोच्चता संघीय सरकार की मुख्य विशेषता है। भारतीय संविधान को देश का सर्वोच्च कानून स्वीकार किया गया है। संविधान के अनुसार बनाए गए कानूनों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। कोई भी सरकारी कर्मचारी अथवा देश का शासक उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। संसद् या राज्य विधानमण्डल किसी ऐसे कानून का निर्माण नहीं कर सकते जो संविधान के किसी अनुच्छेद या धारा के विरुद्ध हो।

6. स्वतन्त्र न्यायपालिका (Independent Judiciary) - संघात्मक सरकार में स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना अनिवार्य है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) तथा उच्च न्यायालयों (High Court) के संगठन के विषय में उपबन्ध अंकित करते समय संविधान निर्माताओं ने वे सभी सिद्धान्त अपनाने का प्रयत्न किया है जो स्वतन्त्र न्यायपालिका के लिए अनिवार्य हैं।

7. न्यायपालिका की सर्वोच्चता (Supremacy of Judiciary) - संघीय सरकार में सर्वोच्च न्यायपालिका का होना अनिवार्य है क्योंकि संघात्मक राज्य में केन्द्र तथा राज्य सरकारों में प्रायः विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसे विवादों का निर्णय निष्पक्ष तथा सर्वोच्च न्यायपालिका ही कर सकती है। भारत के संविधान में स्वतन्त्र तथा सर्वोच्च न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। संविधान की व्याख्या तथा संविधान की सुरक्षा करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्य के उच्च न्यायालयों के पास है।

8. द्वि-सदनीय विधानपालिका (Bi-cameral Legislature)- संघीय सरकार में विधानपालिका का द्वि-सदनीय होना अनिवार्य है। निम्न सदन साधारणतः समस्त लोगों तथा ऊपरी सदन संघीय इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय संसद

में भी दो सदन विद्यमान हैं।

भारतीय संविधान में एकात्मक स्वरूप की व्यवस्था (PROVISIONS OF UNITARY NATURE IN INDIAN CONSTITUTION)

उपर्युक्त विशेषताएं भारतीय संविधान के संघात्मक होने का साकार प्रमाण हैं, परन्तु कुछ विचारक उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी भारतीय संविधान को पूर्णतया संघीय संविधान स्वीकार नहीं करते।

डॉ० व्हीयर (Wheare) के अनुसार, "भारतीय संविधान ने एक ऐसी सरकार की स्थापना की है जो अर्द्ध-संघात्मक है तथा जो सहायक एकात्मक लक्षणों वाला संघात्मक राज्य नहीं, अपितु सहायक संघात्मक लक्षणों वाला एकात्मक राज्य है।"²

डी० डी० बसु के अनुसार, "भारतीय संविधान बनावट में संघात्मक पर वास्तव में एकात्मक है।"

निम्नलिखित विशेषताएँ भारतीय संविधान के एकात्मक स्वरूप को प्रकट करती हैं जिनके कारण भारतीय संविधान के संघात्मक स्वरूप पर संदेह किया जाता है।

एकात्मक विशेषताएं (UNITARY FEATURES)

भारतीय संविधान की एकात्मक विशेषताएं इस प्रकार हैं-

1. शक्तियों का विभाजन केन्द्र के पक्ष में (Division of powers in favour of the Centre)-संविधान में शक्तियों का विभाजन प्रत्येक पक्ष से केन्द्र के पक्ष में है। संघ सूची में राज्य सूची की तुलना से बड़े महत्त्वपूर्ण विषय अंकित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त संघ-सूची के विषयों की संख्या 97 है जबकि राज्य सूची में कम महत्त्व के 66 विषय अंकित हैं। अनुवर्ती सूची में कुल 47 विषय भी केन्द्र के नियन्त्रण से बाहर नहीं हैं क्योंकि दोनों केन्द्र तथा राज्य सरकार दोनों द्वारा उन विषयों पर कानून बनाने पर यदि दोनों के कानूनों में टकराव होता है, तो केन्द्र सरकार का कानून मान्य होगा। शक्तियों का यह विभाजन प्रत्येक पक्ष से केन्द्र को शक्तिशाली बनाता है जो कि एकात्मक सरकार का मुख्य चिह्न है।

2. राज्य-सूची में केन्द्र का हस्तक्षेप (Encroachment by the Centre in the State List)-राज्य-सूची में अंकित विषय भी केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में पूर्णतया बाहर नहीं हैं। यदि राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव पारित करके यह घोषित कर दे कि राज्य सूची में अंकित किसी विषय अथवा विषयों पर केन्द्रीय संसद् द्वारा कानून बनाना राष्ट्रीय हितों के लिए अनिवार्य है तो केन्द्रीय संसद् इन विषयों पर कानून बना सकती है। राज्य सभा के ऐसे प्रस्ताव की अवधि एक वर्ष होती है। इसके अतिरिक्त विदेशों के साथ किए गए समझौते या सन्धियों की पूर्ति के लिए संसद् प्रत्येक विषय पर कानून बना सकती है, चाहे वह विषय राज्य सूची में भी अंकित हो। अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति संकटकालीन घोषणा करके किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है। यदि किसी राज्य में अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू है तो उस राज्य के विषय में भी उन सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद् को प्राप्त हो जाता है जो विषय राज्य सूची (State List) में अंकित हैं।

3. समवर्ती सूची में दिए गए विषयों पर कानून बनाने की राज्य विधानमण्डल की नाममात्र की शक्ति (Nominal Power of State Legislature on the subject given in the Concurrent List)- संविधान के अनुसार समवर्ती सूची में दिए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय संसद् और राज्य विधानमण्डल के पास है। इसके साथ ही संविधान में यह व्यवस्था है यदि एक समान विषयों पर केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें कानून का निर्माण कर दे तो राज्य सरकार का कानून उस सीमा तक रद्द समझा जाएगा जिस सीमा तक वह कानून केन्द्र सरकार के बनाए कानून से टकराव पैदा करता है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि समवर्ती सूची में दिए गए विषयों पर कानून बनाने की राज्य विधानमण्डलों की शक्ति केवल नाममात्र की है।

4. भारतीय संविधान का आपात्काल में एकात्मक बन जाना (The Constitution becomes Unitary during

Emergency)- भारतीय संविधान की अद्भुत विशेषता यह है कि संशोधन किए बिना ही उसे एकात्मक रूप दिया जा सकता है। अनुच्छेद 352 के अनुसार राष्ट्रपति आपात्कालीन स्थिति की घोषणा कर सकता है। राष्ट्रपति की ओर से आपात्कालीन घोषणा होने की अवस्था में राज्यों की स्वाधीनता को समाप्त किया जा सकता है और राज्य सरकारें भंग भी की जा सकती हैं। केन्द्रीय संसद को राज्य सूची में अंकित विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार मिल सकता है। इस प्रकार भारतीय संविधान का संघात्मक स्वरूप संविधान में संशोधन किए बिना ही एकात्मक रूप धारण कर सकता है।

5. राज्यों के पृथक् संविधान का अभाव (No Separate Constitutions for the States) संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड आदि देशों में संघात्मक प्रणाली है तथा वहां राज्यों के अपने पृथक् संविधान हैं, परन्तु भारत में राज्यों को अपने पृथक् संविधान निर्मित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। केन्द्र तथा अन्य राज्यों के लिए एक ही संविधान है जिसमें केन्द्रीय तथा राज्यों में प्रशासकीय संगठन के विषय में व्यवस्थाएं अंकित की गई हैं।

6. एकल नागरिकता (Single Citizenship) – अमेरिका तथा स्विट्जरलैंड के संविधानों में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था है। भारतीय प्रणाली में दोहरी नागरिकता की प्रथा नहीं है, बल्कि सभी व्यक्ति भारत के ही नागरिक हैं तथा सब को समानता के आधार पर संविधान की ओर से अधिकार प्राप्त हैं। किसी व्यक्ति को किसी राज्य की नागरिकता प्रदान नहीं की गई है और न ही किसी राज्य की ओर से कोई विशेष अधिकार दिए गए हैं।

7. संवैधानिक संशोधनों में संघ की श्रेष्ठता (Supremacy of the Centre in Constitutional Amendments)- संविधान में संशोधन करने के प्रति भी राज्यों की अपेक्षा केन्द्र को अधिक अधिकार प्राप्त हैं। संविधान के अधिकांश भाग को संसद साधारण बहुमत से विशेष निश्चित विधि द्वारा संशोधित कर सकती है। संविधान का बहुत कम भाग ऐसा है जिसमें संशोधन करने के लिए कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों का समर्थन अनिवार्य है। राज्य सरकारें स्वयं कोई संवैधानिक संशोधन नहीं कर सकतीं। यहां तक कि वे संवैधानिक संशोधन के विषय में सुझाव भी नहीं दे सकती हैं।

8. संसद के पास नए राज्यों के निर्माण, पुनः सीमांकन तथा पुनर्गठन का अधिकार (Power for the creation of New States, making changes in the Boundaries and Reorganisation of States with the Parliament)- भारतीय संविधान के अनुसार संसद को नए राज्यों को स्थापित करने तथा उनको संघ में सम्मिलित करने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त संसद किसी भी राज्य का क्षेत्र घटा-बढ़ा सकती है, किसी भी राज्य की सीमाएं परिवर्तित कर सकती है, किसी राज्य का नाम परिवर्तित कर सकती है। किसी एक राज्य का कोई भाग काट कर दूसरे राज्य के साथ मिला सकती है और एक राज्य को विभाजित करके दो राज्यों का निर्माण कर सकती है। केन्द्र की यह असीमित शक्ति संविधान की एकात्मकता की ओर झुकाव को व्यक्त करती है। अगस्त, 2000 में उत्तर प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम (Uttar Pradesh Reorganisation Act), मध्य प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम (Madhya Pradesh Reorganisation Act) और बिहार पुनर्गठन अधिनियम (Bihar Reorganisation Act) पास करके उत्तराखण्ड (Uttarakhand), छत्तीसगढ़ (Chhattisgarh) और झारखंड (Jharkhand) नामक नए राज्य स्थापित किए थे।

9. संविधान में संघ शब्द का अभाव (Absence of word 'Federation' in the Constitution)-भारत के संविधान में संघ शब्द का प्रयोग किसी अनुच्छेद अथवा धारा में नहीं किया गया। प्रथम अनुच्छेद (Art. 1) में "भारत को राज्यों का संग्रह (Union of States) कहा गया है।" संविधान में संघ के शब्द का अभाव भी उसकी संघात्मकता के प्रति सन्देह उत्पन्न करता है।

10. राज्य सभा में राज्यों का असमान प्रतिनिधित्व (Unequal Representation of States in Rajya Sabha)-संघीय राज्यों में द्वितीय सदन साधारणतः समानता के आधार पर राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार अमेरिका के द्वितीय सदन सीनेट में प्रत्येक राज्य दो प्रतिनिधि भेजता है, परन्तु भारत की राज्यसभा में राज्यों को प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर नहीं, अपितु जनसंख्या के आधार पर दिया गया है, जो संघात्मक राज्य के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

11. एकीकृत न्यायपालिका (Integrated Judiciary) – संघात्मक राज्यों में दोहरी न्याय प्रणाली की व्यवस्था होना अनिवार्य है, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में राज्यों की न्याय प्रणाली केन्द्रीय न्याय-प्रणाली से पृथक् है, परन्तु भारत में एकीकृत

न्यायपालिका है। देश में प्रत्येक न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय के अधीन कार्य करता है। एकल न्याय प्रणाली भी एकात्मक राज्य की मुख्य विशेषता स्वीकार की जाती है।

12. राज्यों की वित्त के प्रति केन्द्र पर निर्भरता (Financial dependence of the States on the Centre)-राज्य सरकारों के पास यद्यपि आय के अनेक साधन हैं, परंतु इन साधनों द्वारा प्राप्त किया धन राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता। धन के अभाव के कारण राज्यों को धन के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है। केन्द्रीय करों में से कुछ भाग राज्यों को मिलता है। इसके अतिरिक्त राज्यों को केन्द्र की ओर से कुछ वित्तीय सहायता अनुदान के रूप में प्रदान की जाती है। वित्तीय क्षेत्र में राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता संविधान के एकात्मकता की ओर झुकाव को दिखाती है।

13. केन्द्रीय नियोजन (Centralised Planning)-हमारे देश का नियोजन केन्द्रित है। सन्थानम (Santhanam) के विचारानुसार, "नियोजन ने संघात्मक प्रणाली का विघटन किया है और हमारा देश कई पक्षों में एकात्मक विधियों द्वारा कार्य करता है।

14. राज्य सरकारों के लिए केन्द्र का आदेश स्वीकार करना अनिवार्य है (States must abide by the Directions of the Centre)-संविधान के अनुसार प्रत्येक राज्य को अपनी कार्यकारी शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए, जिससे संसद द्वारा बनाए गए कानून का पालन आवश्यक हो सके। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय कार्यपालिका राज्य सरकारों को आदेश भी जारी कर सकती है। कुछ ऐसे और भी अन्य उपबंध एकात्मक व्यवस्था के प्रतीक हैं।

15. राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों को नियुक्त और पदच्युत करना (Appointment and Dismissal of Governors by the President)-भारत के राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और वे राष्ट्रपति की इच्छा तक ही अपने पद पर सुशोभित रह सकते हैं। इसके विपरीत अमेरिका में राज्यपाल जनता द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं तथा निश्चित काल तक अपने पद पर स्थिर रहते हैं। राज्यों में राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधि होता है तथा केन्द्र राज्यपाल द्वारा ही राज्यों पर अपना नियन्त्रण रखता है। राज्यपालों की केन्द्र द्वारा नियुक्ति, स्थानान्तरण, पदमुक्ति तथा उन पर केन्द्र का नियन्त्रण संघात्मकता के नहीं, बल्कि एकात्मकता के चिह्न हैं।

16. राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की शक्ति (Power to promulgate President's Rule in States)-संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि यदि राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट के द्वारा अथवा किसी अन्य साधन से यह विश्वास हो जाए कि राज्य सरकार संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य नहीं कर रही है अथवा कार्य करने की अवस्था में नहीं तो राष्ट्रपति उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की घोषणा कर सकता है। यदि ऐसी घोषणा कर दी जाए तो सम्बन्धित राज्य की सरकार भंग हो जाती है और राज्य का शासन राष्ट्रपति के नियन्त्रणाधीन हो जाता है। संविधान की यह व्यवस्था केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिशाली बनाती है और इस प्रकार राज्य सरकारों का अस्तित्व पर्याप्त सीमा तक केन्द्र सरकार की दया दृष्टि पर निर्भर हो जाता है, जोकि एकात्मक व्यवस्था का चिह्न है।

निष्कर्ष- भारत वास्तव में भारत की विशेष परिस्थितियां अनुसार एक अनोखा संघवाद है। अमेरिका और अनेकों देशों के संघवाद का निर्माण उन देशों की अपनी-अपनी विशेष सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक स्थितियां अनुसार हुआ है। संविधान का निर्माण करते समय भारतीय संविधानकारों को अपने इर्द-गिर्द मासूम लोगों के खून की नदियां नज़र आ रही थीं और उनको भारत अलग-अलग जातियां, धर्म, भाषायें, क्षेत्रों और अनेकों भिन्नताओं वाला देश प्रतीत हो रहा था। ऐसे देश के लिए उन्होंने एक अनोखी किस्म के संघवाद की व्यवस्था की जिसका एकाएक उद्देश्य भारत में राष्ट्रीयता की स्थापना करना था। अन्त में हम कह सकते हैं कि भारत न तो अर्ध संघात्मक और न ही एकात्मक विशेषताएं वाला संघ राज्य है बल्कि यह अपनी परिस्थितियों के अनुसार बनाया गया संघवाद न अनोखा तजुर्बा है।

केंद्र-राज्य संबंध

भारतीय संविधान में केंद्र और राज्यों के बीच तीन प्रकार के संबंधों का वर्णन है।

वैधानिक सम्बन्ध (Legislative Relations)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 246 के द्वारा समस्त वैधानिक शक्तियों को तीन सूचियों-संघ सूची, राज्य सूची एवं में विभक्त किया गया है। इन तीनों सूचियों में शामिल विषयों का विवरण संविधान की सातवीं अनुसूची समवर्ती सूची में (Schedule) में दिया गया है। इन तीनों सूचियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. संघ सूची (Union List) - संघ सूची में राष्ट्रीय महत्त्व के उन विषयों को शामिल किया गया है, जिनके सम्बन्ध में समस्त देश में एक समान नीति का पालन किया जाना आवश्यक है। इस सूची में दिए गए समस्त विषयों पर कानून-निर्माण की शक्ति संसद को दी गयी है। इस सूची में 97 विषय सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ प्रमुख विषय हैं-प्रतिरक्षा, विदेशी मामले युद्ध एवं सन्धि, नागरिकता, रेल, बन्दरगाह हवाई मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन, मुद्रा-निर्माण, बैंक, बीमा एवं खानें।

2. राज्य सूची (State List)- राज्य सूची में उन विषयों को शामिल किया गया है, जो स्थानीय महत्त्व के हैं। सामान्यतया इस सूची में दिए गए विषयों पर कानून-निर्माण की शक्ति राज्य विधानमण्डलों को प्रदान की गयी है। इस सूची में अभी भी 66 विषय हैं, यद्यपि 42वें संशोधन अधिनियम (1976) द्वारा इस सूची में से चार विषयों-शिक्षा, वन, वन्य प्राणियों की रक्षा एवं नाप-तोल को निकालकर समवर्ती सूची में शामिल कर दिया गया था। इस सूची में शामिल प्रमुख विषय हैं-पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सिंचाई एवं सड़कें।

3. समवर्ती सूची (Concurrent List)- समवर्ती सूची में उन विषयों को सम्मिलित किया गया है, जो राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। इस सूची में दिए गए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद एवं राज्य विधानमण्डलों दोनों को प्रदान किया गया है, किन्तु संसद एवं राज्य विधानमण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों में टकराव की स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होता है। इस सूची में अभी भी 47 विषय शामिल हैं, यद्यपि 42वें संशोधन अधिनियम (1976) द्वारा इसमें पाँच विषय जोड़े गए हैं। इस सूची में शामिल प्रमुख विषय हैं-फौजदारी विषय एवं प्रक्रिया, निवारक निरोध, विवाह एवं विवाह-विच्छेद, दत्तक एवं उत्तराधिकार, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, सामाजिक बीमा, पुनर्वास एवं पुरातत्त्व।

उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान द्वारा अवशेष शक्तियाँ (Residuary Powers) अर्थात् ऐसे विषय पर कानून-निर्माण की शक्तियाँ, जो विषय तीनों सूचियों में से किसी भी सूची में शामिल नहीं हैं, केन्द्र को सौंपी गयी हैं।

राज्य सूची के विषयों पर संसद की कानून-निर्माण की शक्तियाँ (Legislative Powers of Parliament on the Subjects of State List)-

संसद को राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति निम्नलिखित परिस्थितियों में प्राप्त हो जाती है-

1. राज्य सभा के प्रस्ताव पर (On the Resolution of Rajya Sabha)- यदि अनुच्छेद 249 के अन्तर्गत राज्य सभा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके 'राज्य सूची' में शामिल किसी विषय को 'राष्ट्रीय महत्त्व' का घोषित कर दे. तो उस विषय पर कानून बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाता है। संसद को यह अधिकार केवल एक वर्ष के लिए ही प्राप्त होता है, किन्तु यदि राज्य सभा इस प्रस्ताव को पुनः पारित कर देती है, तो यह अवधि एक वर्ष के लिए और बढ़ जाती है। इस अवधि के समाप्त होने के बाद भी यह कानून छः माह तक लागू रह सकता है।

2. दो या दो से अधिक राज्यों के अनुरोध पर (On the Request of Two or More than Two States) - यदि अनुच्छेद 252 के अन्तर्गत दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पारित करके यह इच्छा जाहिर करें कि 'राज्य सूची' के किसी विषय पर संसद द्वारा कानून निर्माण किया जाना चाहिए, तो उन राज्यों हेतु उस विषय पर कानून-निर्माण का अधिकार संसद को मिल जाता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते के क्रियान्वयन हेतु (For the Fulfilment of International Treaty or Agreement Obligation)- अनुच्छेद 253 के तहत भारत द्वारा हस्ताक्षरित किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते के क्रियान्वयन हेतु संसद

'राज्य सूची' में शामिल किसी विषय पर कानून बना सकती है।

4. राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा होने पर (On the Proclamation of National Emergency) - जब अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा कर दी जाती है, तो 'राज्य सूची' में दिए गए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाता है, किन्तु संसद द्वारा निर्मित ऐसे कानून आपातकाल की समाप्ति के छः माह बाद तक ही प्रभावी रहते हैं। इस अवधि के बाद ये स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

5. राज्य में संवैधानिक तन्त्र के असफल होने पर (On the Failure of Constitutional Machinery in a State)- जब अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल होने की स्थिति में राष्ट्रपति सासन लागू कर दिया जाता है, तो इस अवधि में उस राज्य हेतु 'राज्य सूची' में शामिल विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाता है।

6. कुछ विधेयकों का राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आरक्षण (Reservation of Some Bills for Presidential Assent) - उपर्युक्त पाँचों स्थितियों के अतिरिक्त भी राज्यों की कानून निर्माण की शक्ति सीमित की गयी है। अनुच्छेद 304 (ख) के अन्तर्गत कुछ विधेयकों के लिए राज्य विधानमण्डल में प्रस्तुत किए जाने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति लेनी आवश्यक है। उदाहरण के लिए वे विधेयक, जिनके द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से उस राज्य के अन्दर या बाहर, वाणिज्य या मेल-जोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाए जाने की व्यवस्था हो। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्यपाल किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आरक्षित कर सकता है और राष्ट्रपति, बिना कोई कारण बताए, उस विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है।

7. राज्य सूची के विषयों में केन्द्र का हस्तक्षेप (Centre's Intervention in the Subjects of State List)-वैसे तो संविधान के प्रावधानों के अनुसार केन्द्र राज्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली है, किन्तु राज्यों द्वारा यह शिकायत भी की जाती रही है कि केन्द्र उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य जैसे विषयों पर कानून बनाने लगा है, जब कि इन विषयों को 'राज्य सूची' में सम्मिलित किया गया है।

प्रशासनिक सम्बन्ध (Administrative Relations)

संविधान के 11वें भाग में अनुच्छेद 256 से लेकर 263 तक केन्द्र एवं राज्यों के मध्य प्रशासनिक सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। इन सम्बन्धों का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है-

1. राज्यों का दायित्व (Obligation of States) – अनुच्छेद 256 के अनुसार राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करेंगे कि संसद द्वारा निर्मित कानूनों का पालन होता रहे। इसके अतिरिक्त, राज्यों का यह भी दायित्व तय किया गया है कि वे केन्द्र के प्रशासन में कोई बाधा उत्पन्न न होने दें।

2. केन्द्र का राज्य सरकारों को निर्देश- (Centre's Directions to State Governments)- अनुच्छेद 257 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को यह निर्देश दे सकती है कि वे अपनी प्रशासकीय शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करें कि केन्द्र की प्रशासनिक शक्ति के क्रियान्वयन में कोई बाधा न आए।

3. केन्द्र द्वारा राज्य सरकारों का उपयोग (Use of State Governments by the Centre)- अनुच्छेद 258 के अनुसार राष्ट्रपति राज्य सरकार या उसके पदाधिकारियों को सशर्त या बिना किसी शर्त के ऐसे मामलों से सम्बन्धित कार्य सौंप सकता है, जो केन्द्र की प्रशासनिक शक्ति की सीमा में आते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि केन्द्र द्वारा 'संघ सूची' में शामिल किसी भी विषय से सम्बन्धित कोई भी कार्य राज्य के पदाधिकारियों को सौंपा जा सकता है।

4. सार्वजनिक कृत्यों, अभिलेखों एवं न्यायिक कार्यवाहियों को मान्यता - अनुच्छेद 261 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों, दोनों का यह कर्तव्य है कि वे समस्त सार्वजनिक कृत्यों, अभिलेखों एवं न्यायिक प्रक्रिया में अपनी पूर्ण आस्था एवं विश्वास व्यक्त करें। इसके अतिरिक्त, जिन परिस्थितियों एवं तरीकों से इन कृत्यों, अभिलेखों एवं न्यायिक प्रक्रियाओं को

प्रमाणित या निर्धारित किया जाता है, उनकी व्यवस्था संसद द्वारा निर्मित कानूनों द्वारा की जाती है।

5. अन्तर्राज्यीय नदियों के जल का बंटवारा (Allocation of the Water of Inter-State Rivers) - अनुच्छेद 262 में यह व्यवस्था की गयी है कि संसद कानून बनाकर अन्तर्राज्यीय नदियों के जल के प्रयोग, वितरण अथवा नियन्त्रण या अन्तर्राज्यीय नदी घाटी के बारे में विवाद या आरोपों के निर्णय की व्यवस्था करें। इस बारे में संसद यह भी निर्धारित कर सकती है कि सर्वोच्च न्यायालय या कोई अन्य न्यायालय इस प्रकार के विवादों पर विचार न करे।

6. अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना (Formation of Inter-State Council)- राष्ट्रपति अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत सार्वजनिक उद्देश्य की दृष्टि से अन्तर्राज्यीय परिषद् (Inter-State Council) स्थापित कर सकता है। अपनी इस शक्ति का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति ने इसका गठन किया है और इसे निम्नलिखित कार्य सौंपे हैं- (i) राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों की जाँच करना और उनके विषय में परामर्श देना।(ii) केन्द्र एवं राज्यों के सामान्य हितों पर विचार करना। (iii) अन्तर्राज्यीय विषयों से सम्बन्धित नीतियों एवं कार्यक्रमों के समन्वय के लिए सुझाव देना।

7. अखिल भारतीय सेवाएँ (All India Services) - अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों की भर्ती संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है, किन्तु इन्हें राज्यों में महत्वपूर्ण पदों पर तैनात किया जाता है। ये अधिकारी अपना वेतन, भत्ते आदि राज्यों से प्राप्त करते हैं, जब कि इनके वेतमान आदि का निर्धारण केन्द्र द्वारा किया जाता है। इनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई संघीय लोक सेवा आयोग के परामर्श से केन्द्रीय गृह मंत्रालय द्वारा की जाती है।

8. राज्यपालों की नियुक्ति (Appointment of Governors) - संविधान के अनुच्छेद 155 अन्तर्गत राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और वह राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पद पर बना रह सकता है। इस नाते राज्यपाल को केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में कार्य करना पड़ता है। वस्तुतः राज्यपाल के माध्यम से केन्द्र सरकार राज्यों को नियन्त्रित करती है।

9. बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक अशान्ति से राज्यों की रक्षा (Protection of States from External Aggressions and Internal Disturbance) – अनुच्छेद 355 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक अशान्ति से राज्यों की रक्षा करने हेतु आवश्यक कदम उठा सकती है और यह भी सुनिश्चित कर सकती है कि राज्य सरकारें संविधान के प्रावधानों के अनुरूप कार्य करें।

10. राज्यों में राष्ट्रपति शासन (Presidential Rule in States) - अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संवैधानिक तंत्र विफल होने पर किसी राज्य में आपातकाल की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा के साथ ही राज्य सरकार भंग हो जाती है और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो जाता है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति ऐसी राज्य सरकार को दण्डित कर सकता है, जो केन्द्र सरकार के निर्देशों का पालन न कर रही हो।

वित्तीय सम्बन्ध (FINANCIAL RELATIONS)

वित्तीय क्षेत्र में भी संघ और राज्यों के मध्य वित्तीय साधनों का विभाजन किया गया है। भारतीय संविधान में यह विभाजन 1935 के अधिनियम में किए गए विभाजन पर आधारित है। वर्तमान विभाजन के अनुसार कुछ कर केवल राज्य सरकारों को सौंपे गए हैं। संघ द्वारा लगाए गए करों का विभाजन इस प्रकार है-

1. कुछ कर ऐसे हैं जो केन्द्रीय सरकार की ओर से लगाए और एकत्र किए जाते हैं, परन्तु उनके द्वारा एकत्र किया गया घन राज्यों को सौंप दिया जाता है। इसमें से कुछ मुख्य प्रकार हैं (i) कृषि वाली भूमि की आय को छोड़ कर शेष सम्पत्ति पर उत्तराधिकारी सम्बन्धी कर. (ii) कृषि वाली भूमि की आय को छोड़ कर शेष सम्पत्ति पर भू-सम्पत्ति कर (Estate Duty), (iii) रेल, समुद्र या वायु के माध्यम से ले जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, (iv) रेल का किराया और वस्तुओं के भाड़े पर कर, (v) शेयर बाजार और स्टॉक के सौदे पर स्टाम्प कर के अतिरिक्त अन्य कर, (vi) समाचार पत्रों में छपने वाले विज्ञापनों पर कर।

2. संघीय करों में कुछ कर ऐसे हैं, जिनको लगाती तो संघीय सरकार है परन्तु उनको एकत्र राज्य सरकार द्वारा किया जाता है

और राज्य सरकारें ही उनको व्यय करती हैं। ऐसे करों में स्टाम्प फीस, औषधियों और श्रृंगार प्रसाधन के सामान पर उत्पादन कर सम्मिलित है।

3. संघीय करों में कुछ कर ऐसे हैं जो संघीय सरकार द्वारा लगाए और एकत्र किए जाते हैं और उनको संघ तथा राज्यों में वितरित कर दिया जाता है। ऐसे करों में आय-कर आदि सम्मिलित हैं।

4. अनुदान (Grants-in-Aid)-राज्य सरकारों की आय के साधन सीमित होने के कारण उनको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सदा धन की कमी रहती है। इसलिए संघ राज्य सरकारों को अनुदान के रूप में कुछ धन देती है। केन्द्रीय सरकार ऐसे अनुदान देते समय कुछ शर्तें निश्चित करती हैं जिनका पालन अनुदान प्राप्त करने वाले राज्य के लिए अनिवार्य होता है।

5. वित्तीय संकट (Financial Emergency)-राष्ट्रपति देश में वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। वित्तीय संकट के मध्य राष्ट्रपति राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित किए गए वित्त विधेयक को अपनी स्वीकृति के लिए मंगवा सकता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति राज्यों के कर्मचारियों के वेतन और भत्तों में कमी करने का आदेश दे सकता है।

6. ऋण (Loan)-राज्य सरकारें अपने राज्य विधानमण्डलों द्वारा बनाए गए नियमों के अन्तर्गत राज्य के संचित कोष (Consolidated Fund of the States) की जमानत पर ऋण के रूप में कुछ रकम ले सकती है। राज्य सरकार भारत से बाहर विदेशों से ऋण नहीं ले सकती। Art 213

7. वित्तीय आयोग (Finance Commission)- संविधान के आरम्भ होने के दो वर्ष भीतर और उसके पश्चात् प्रत्येक 5 वर्ष के पश्चात् राष्ट्रपति को एक वित्त आयोग (Finance Commission) नियुक्त करने के लिए कहा गया है, जो संघ और राज्यों में करों के विभाजन के सम्बन्ध में और संघ की ओर से राज्यों को अनुदान (Grants) देने के सम्बन्ध में सिफ़ारिशें करता है।

केन्द्र राज्यों के सम्पूर्ण सम्बन्धों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

केन्द्र राज्यों के सम्बन्धों के प्रबन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण दोष हैं जिनका संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है-

1. वैधानिक क्षेत्र में केन्द्र की प्रभुराज्यता (Dominance of the Centre in Legislative Field)- केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के परस्पर वैधानिक सम्बन्धों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान ने केन्द्र को वैधानिक क्षेत्र में बहुत अधिक शक्तिशाली बनाया है। संघीय सूची में अंकित विषय संख्या में पर्याप्त अधिक हैं और महत्त्व के पक्ष में भी ये विषय राज्य सूची में दिए गए विषयों की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। राज्य सूची में दिये गए नियम भी केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से मुक्त नहीं हैं। राज्य सरकार की ऐसी स्थिति संघात्मक प्रणाली की आत्मा के विरुद्ध है।

2. राज्य सरकारों के कानून राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखने की व्यवस्था (Provision for reserving State Laws for the President's Consideration) राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित किए गए कानूनों को राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। राष्ट्रपति उन विधेयकों की स्वीकृति देने से इन्कार भी कर सकता है। केन्द्र द्वारा नियुक्त किए हुए राज्यपाल केन्द्रीय सरकार को प्रसन्न करने के लिए राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किए गए किसी भी कानून को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है।

3. संविधान में संशोधन करने की शक्ति केन्द्र के पास (Power of Amending the Constitution with the Centre) संविधान में संशोधन करने के सम्बन्ध में राज्य विधानमण्डल पहल नहीं कर सकते। संविधान के थोड़े-बहुत अनुच्छेद ऐसे हैं, जिनमें संशोधन करने के सम्बन्ध में राज्य विधानमण्डलों की स्वीकृति ली जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैधानिक और संवैधानिक क्षेत्र में राज्यों की अपेक्षा केन्द्र सरकार की स्थिति बहुत ही अधिक शक्तिशाली है।

4. प्रशासकीय सम्बन्धों में केन्द्र की श्रेष्ठता (Supremacy of the Centre in administrative relations)- वैधानिक क्षेत्र की भांति प्रशासनिक क्षेत्र में भी केन्द्र सरकार की स्थिति प्रभुत्व (Dominance) वाली है। राज्यपाल राज्यों के यद्यपि

संवैधानिक मुखिया होते हैं, परन्तु केन्द्र द्वारा नियुक्त होने के कारण वे मुख्य रूप में केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। केन्द्रीय सरकार राज्यपाल द्वारा राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों के उच्च पदों पर लगे अधिकारी अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी होते हैं। अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी वास्तव में केन्द्रीय सरकार के ही अधीन होते हैं। वास्तव में इन अधिकारियों द्वारा केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों पर अपना प्रभाव बनाए रखती है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति सम्पूर्ण देश में या किसी विशेष राज्य में आपात स्थिति की घोषणा करके राज्यों के प्रशासन को अपने हाथ में ले सकता है। यदि केन्द्रीय सरकार अनुभव करे कि किसी राज्य में केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है, तो केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय सुरक्षा पुलिस बल भेज सकती है।

5. अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग (Misuse of Article 356)- संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति किसी भी राज्य में संवैधानिक प्रवन्ध असफल होने की परिस्थिति में राष्ट्रपति राज्य लागू कर सकता है। राष्ट्रपति राज्य लागू होने की अवस्था में राज्य सरकार भंग कर दी जाती है। अनुच्छेद 356 राज्यों के प्रशासन को केन्द्रीय सरकार के रहम पर निर्भर करने का जिम्मेवार है। इस अनुच्छेद का आश्रय लेकर केन्द्र सरकार किसी-न-किसी बहाने किसी भी राज्य सरकार को भंग कर सकती है।

6. राज्यपाल केन्द्र के प्रतिनिधि (Governors as Agents of the Central Government)- राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्र सरकार के परामर्शानुसार राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथा वे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। भारतीय राजनीतिक प्रणाली का गत अर्द्ध-शताब्दी का इतिहास इस सत्यता को प्रमाणित करता है कि अनेक राज्यपालों ने केन्द्र सरकार के संकेतों पर ऐसी कार्यवाही की है जो संसदीय प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं थी। रा

7. वित्तीय सम्बन्धों में केन्द्र का प्रभुत्व (Dominance of the centre in Financial Relations)- वित्तीय क्षेत्र में भी राज्यों की स्थिति केन्द्रीय सरकार की अपेक्षा महत्त्वहीन है। राज्य सरकारों को दिए गए आय के साधन इतने कम हैं कि राज्य सरकार अपनी विकास योजनाओं और अन्य आवश्यकताओं को सुगमता से पूरी नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति होने के कारण राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से सहायता की मांग करनी पड़ती है। यदि केन्द्र और राज्यों में एक दल की सरकारें हों तो काम में अड़चन पहने की कम सम्भावना है, परन्तु यदि केन्द्र में किसी और दल की तथा राज्य में किसी और दल की सरकार हो तो वित्तीय सहायता के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार में तनाव उत्पन्न हो सकता है।

8. केन्द्रीयकृत आयोजन (Centralised Planning)- हमारे देश में आयोजन का केन्द्रीयकृत होना भी केन्द्र सरकार की श्रेष्ठता तथा राज्य सरकार की कमजोर स्थिति को अभिव्यक्त करता है। हमारे देश में एक नीति आयोग (Niti Aayoge) है, जिसके सदस्य केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। राज्यों की प्रमुख विकासशील योजनाओं का अन्तिम निर्णय भी इसी आयोग द्वारा किया जाता है। राज्य सरकार को महत्त्वपूर्ण विकासशील योजनाओं के विषय में केन्द्र सरकार की स्वीकृति लेनी आवश्यक है। ऐसी स्थिति केन्द्र राज्य के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न करने के लिए जिम्मेवार होती है।

9. नवीन राज्यों की स्थापना तथा उनकी सीमाओं में परिवर्तन करने की शक्ति (Power for the formation of new States and the alteration in their boundaries)— नवीन राज्यों की स्थापना करना तथा उन्हें संघ में सम्मिलित करने की शक्ति भी केन्द्रीय संसद् को प्रदान की गई है। इस विषय में राज्य विधानमण्डल को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

राज्य स्वायत्तता (State Autonomy)

राज्य स्वायत्तता का अर्थ

भारतीय संघ की राज्यों की स्वायत्तता से अभिप्राय यह है कि राज्यों के आन्तरिक मामलों में केन्द्र सरकार कम-से-कम हस्तक्षेप करे तथा संविधान द्वारा राज्यों का जो शक्तियाँ दी गई हैं, उनका प्रयोग उन्हीं के द्वारा किया जाए।

राज्यों को जन कल्याण के लिए कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए और इसके लिए राज्यों के पास शक्तियाँ भी होनी

चाहिए और वित्तीय संसाधन भी। यह माना जाता है कि जब तक राज्य वित्तीय मामलों में स्वतन्त्र नहीं होंगे, तब तक ये स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकते। राज्य की स्वायत्तता के लिए यह आवश्यक है कि राज्यों को अपनी जन कल्याणकारी योजनाएँ को लागू करने के लिए केन्द्र द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता पर निर्भर न होना पड़े। राज्यों की स्वायत्तता के समर्थकों का कहना कि केन्द्र के पास सीमित शक्तियाँ होनी चाहिए अर्थात् केन्द्र के पास प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, मुद्रा, संचार के साधन आदि विषय ही होने चाहिए और बाकी सभी विषय राज्यों के पास होने चाहिए। 'राज्यों की स्वायत्तता' का अर्थ न तो राज्यों की स्वतन्त्रता से है और न ही प्रभुसत्ता से। यह एक ऐसा वैधानिक दर्जा है जिसमें राज्यों की उनके क्षेत्राधिकार में पूर्ण स्वतन्त्रता तथा कम-से-कम केन्द्रीय हस्तक्षेप का आश्वासन प्राप्त होता है।

राज्यों को अपने निश्चित क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार प्राप्त होना ही स्वायत्तता है।

राज्यों की स्वायत्तता की माँग (Demand for state Autonomy)- राज्यों की स्वायत्तता की माँग मुख्य रूप से साम्यवादी दल (मार्क्सवादी), डी. एम. के, अन्ना डी. एम. के. नेशनल काँग्रेस, शिरोमणि अकाली दल, तेलगूदेशम, असम गण परिषद आदि दलों द्वारा की जाती रही है।

1. साम्यवादी (मार्क्सवादी) दल की माँग (Demand of Communist Party (Marxist))-मार्च, 1977 में केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार की स्थापना के साथ राज्यों की स्वायत्तता की माँग जोर पकड़ने लगी। पश्चिमी बंगाल में साम्यवादी दल की सरकार के मुख्य मन्त्री ज्योति बसु ने स्वायत्तता की माँग का मसौदा तैयार करके अन्य राज्यों के गैर-कांग्रेसी मुख्य मन्त्रियों-पंजाब के प्रकाश सिंह बादल, जम्मू व काश्मीर के शेख अब्दुल्ला, तमिल नाडु के एम. जी. रामचन्द्रन आदि को भेजा। मुख्य मन्त्री ज्योति बसु ने प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई से बात-चीत की और उन्हें इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए मुख्यमन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाने का सुझाव दिया। राज्यों की स्वायत्तता से सम्बन्धित प्रस्तुत मसौदे में निम्नलिखित बातें शामिल थीं-

(i) भारतीय संघ को 'राज्यों का परिसंघ' (Confederation of States) घोषित किया जाए।

(ii) राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की व्यवस्था समाप्त की जाए तथा अनुच्छेद 356 तथा 357 को संविधान से निकाल दिया जाए।

(iii) राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानूनों के लिए केन्द्र की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

(iv) राज्यों के सभी प्रकार के कार्मिक, जिनमें भारतीय प्रशासनिक सेवा (L.A.S) तथा भारतीय पुलिस सेवा (I.P.S) के अधिकारी भी शामिल हैं, पूर्ण रूप से राज्य सरकारों के अधीन होने चाहिए।

(v) कुल राष्ट्रीय राजस्व का 75 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों के खर्च के लिए दिया जाए।

(vi) संविधान के अनुच्छेद 249 को रद्द कर दिया जाए।

(vii) राज्यों को कर लगाने तथा वसूल करने का अधिकार दिया जाए।

(viii) लोक सभा की भांति, राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से करवाया जाए और तीस लाख से अधिक आबादी वाले सभी राज्यों को राज्य सभा में समान प्रतिनिधित्व दिया जाए।

(ix) संविधान के अनुच्छेदों 200 तथा 201 को समाप्त कर दिया जाए। राज्य के वित्त मन्त्री अशोक मित्र ने राज्यों को अधिक वित्तीय शक्तियों देने पर जोर देते हुए कहा कि यदि ऐसा नहीं किया गया, तो राज्यों को अधिक उत्तरदायित्व देने का कोई लाभ नहीं होगा।

2. नेशनल काँग्रेस की माँग (Demand of National Conference) - राज्य स्वायत्तता के दूसरे प्रभुत्व समर्थक जम्मू व काश्मीर की नेशनल काँग्रेस के प्रमुख नेता शेख अब्दुला थे। उन्होंने दिल्ली में आयोजित एक संवाददाता सम्मेलन में कहा था

कि, "भारतीय संविधान की धारा 370 को सभी राज्यों पर लागू किया जाए और राज्यों को अधिक से अधिक अधिकार दिए जाएं, ताकि राज्य सरकारें समस्याओं को निपटाने में सक्षम हों।" शेख अब्दुल्ला के बेटे डॉ. फारूख अब्दुल्ला, जो जम्मू व कश्मीर के मुख्यमंत्री भी रहे, ने भी 1995 में कश्मीर में 1953 से पहले की स्थिति लागू करने की मांग की है।

3. शिरोमणि अकाली दल की माँग (Demand of Shiromani Akali Dal) - पंजाब के शिरोमणि अकाली दल ने भी अपने कई सम्मेलनों में राज्य स्वायत्तता की माँग की है। अक्टूबर, 1978 में अकाली दल से इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित किया, जो 'आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रस्ताव में कहा गया कि केन्द्र सरकार का अधिकार-क्षेत्र प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, रेलवे तथा संचार साधन और मुद्रा तक ही सीमित होना चाहिए। शेष सभी विषय राज्य सरकारों के अधीन हों और उन पर केन्द्र सरकार का कोई नियन्त्रण न हो। 1983 में अकाली दल द्वारा राज्य स्वायत्तता के लिए आन्दोलन चलाया गया। फरवरी, 1998 में प्रकाशित अपने चुनाव घोषणा-पत्र में अकाली दल ने फिर से राज्यों को अधिक शक्तियाँ सौंपने और अनुच्छेद 356 को संविधान से निकालने की बात दोहरायी। आज भी अकाली दल राज्य स्वायत्तता की माँग कर रहा है।

4. डी.एम. के. तथा अन्ना डी. एम. के. की माँग (Demand of D.M.K and A.L.D.M.K)-तमिल नाडु के डी.एम. के तथा अन्ना डी.एम. के. दल भी काफी लम्बे समय से निरन्तर से राज्य स्वायत्तता की माँग करते रहे हैं। डी.एम.के. दल के प्रथम मुख्य मन्त्री अन्नादुराई ने कहा था कि "हमें संविधान-निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त तथा व्यावहारिक को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान में आदर्श केन्द्र द्वारा केवल उतनी ही शक्तियाँ व्यावहारिक में लाई जानी चाहिए जिससे कि देश की प्रभुसत्ता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं जैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता है।" सन् 1970 में डी.एम.के. द्वारा मद्रास में 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया गया, जिसमें केन्द्र सरकार की कड़ी आलोचना की गई। अप्रैल, 1971 में डी.एम. के. नेता तथा मद्रास के तत्कालीन मुख्य मन्त्री करुणानिधि ने तो यहां तक कह दिया था कि यदि उनकी राज्य स्वायत्तता की माँग स्वीकार नहीं की गई, तो वह तमिल नाडु को भारतीय संघ से अलग करने के लिए आन्दोलन करेंगे। इससे पूर्व 1969 में तमिल नाडु सरकार ने मद्रास उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश राज मन्नार की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की थी, जिसे राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने के लिए सुझाव देने का काम सौंपा गया था। 1977 में तमिल नाडु में डी.एम.के. के स्थान पर अन्ना डी.एम. के. की सरकार बनी और इस दल ने भी अपने चुनाव घोषणा-पत्र में राज्य स्वायत्तता की माँग पर जोर दिया। तमिल नाडु के ये दोनों राजनीतिक दल राज्यों को अधिक अधिकार दिए जाने की माँग करते रहते हैं।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार करने अर्थात् राज्यों को स्वायत्तता देने पर विचार करने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार द्वारा 24 मार्च, 1983 को सरकारिया आयोग की नियुक्ति की गई। काफी विचार-विमर्श के बाद इस तीन-सदस्य आयोग ने नवम्बर, 1987 में सर्वसम्मति से तैयार की गई अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी। इस आयोग का विचार था कि केन्द्र सरकार की शक्तियाँ कम नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि देश की एकता एवं अखण्डता के लिए सुदृढ़ केन्द्र का होना आवश्यक है। तब से लेकर आज तक राज्य स्वायत्तता का मुद्दा, एक प्रमुख राजनीतिक मुद्दा बना हुआ है।

राज्य-स्वायत्तता की माँग के कारण (REASONS FOR THE DEMAND OF STATE AUTONOMY)

1967 के पश्चात् राज्य स्वायत्तता की माँग ने जोर पकड़ा था। धीरे-धीरे माँग अधिक तोर पकड़ती गई और 1983 में केन्द्र सरकार को केन्द्र राज्य के सम्बन्धों के सन्दर्भ में पूर्ण विचार के लिए एक आयोग नियुक्त करना पड़ा था। राजनीतिक क्षेत्र में जो भी माँग जन्म लेती है, उस माँग के अवश्य ही कुछ विशेष कारण होते हैं। राज्य-स्वायत्तता की माँग का उदय भी कारणों के बिना नहीं हुआ है। इस माँग को जन्म देने वाले मुख्य कारण निम्नलिखित हैं-

1. पृथक् सांस्कृतिक अस्तित्व को स्थिर रखने की इच्छा (A desire of maintaining separate Identity)-भारत में विभिन्न जातियों, धर्मों और संस्कृतियों के लोग रहते हैं। प्रत्येक सांस्कृतिक अल्पसंख्यक को अपने पृथक् सांस्कृतिक अस्तित्व की सुरक्षा के लिए कुछ चिन्ता है। उन्हें यह संदेह है कि बहुसंख्या की संस्कृति उनकी संस्कृति को अपने में ही समेट लेगी और उनकी कोई पृथक् सांस्कृतिक पहचान नहीं रहेगी। सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के लोगों की यह भावना है कि उनकी सांस्कृतिक अस्तित्व की पृथक् पहचान तभी बनी रह सकती है, यदि वे राजनीतिक और आर्थिक रूप में प्रबल होंगे। अन्य शब्दों में, उनका

यह विचार है कि सांस्कृतिक अस्तित्व की सुरक्षा पर्याप्त सीमा तक आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के अस्तित्व पर निर्भर करती है। सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों का यह विचार है कि यदि वे राजनीतिक रूप में प्रबल होंगे तो बहुसंख्या उनके विरुद्ध पक्षपात या मतभेद नहीं कर सकेगी। इसी कारण राज्यों को अधिक शक्तियां देने की मांग विशेषतः उन राज्यों में से उत्पन्न हुई है जिन राज्यों में कोई नसली, धार्मिक, भाषायी या सांस्कृतिक समूह के लोग अधिक केन्द्रित हुए हैं। पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, केरल, पंजाब, जम्मू-कश्मीर कुछ ऐसे राज्य हैं जहां किसी-न-किसी विशेष नसली, धार्मिक, भाषायी या सांस्कृतिक समूह की बहुसंख्या निवास करती है। इन राज्यों में से ही राज्य स्वायत्तता की मांग उत्पन्न हुई थी और इन राज्यों में ही सामान्यतः विपक्षी दलों की सरकारें कायम हुई थी।

2. राज्यों के पास वित्तीय साधनों का अभाव (Lack of financial resources with the States)- वित्तीय साधनों का जो विभाजन केन्द्र और राज्यों में भारतीय संविधान ने किया है, वह विभाजन केन्द्र के पक्ष में है। आय के महत्वपूर्ण साधन केन्द्र सरकार को दिए गए हैं, जबकि राष्ट्र के विकास से सम्बन्धित महत्वपूर्ण कार्य राज्यों को दिए गए हैं। राज्यों के पास वित्तीय साधनों का इतना अधिक अभाव है कि राज्य अपने साधनों में से अपनी आवश्यकताएं पूर्ण नहीं कर सकते हैं। वित्तीय आवश्यकताओं हेतु राज्यों को संघ पर निर्भर होना पड़ता है। संघ-सरकार द्वारा राज्यों को सहायता अनुदान (Grants-in-aid) दिए जाते हैं। विपक्षी दलों की राज्य सरकारों की प्रायः यह शिकायत रहती है कि संघ सरकार उनके साथ सौतेला व्यवहार करता है। ऐसे पक्षपात से मुक्ति पाने के लिए विपक्षी दल राज्य को अधिक शक्तियां और अधिक वित्तीय साधन देने की मांग करते हैं।

3. क्षेत्रीय असन्तुलन (Regional Imbalances) - हमारे देश के विभिन्न भागों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति एक-सी नहीं है। कुछ क्षेत्र आर्थिक रूप में अधिक विकसित तथा कुछ पिछड़े हुए हैं। एक ही राज्य में विभिन्न क्षेत्रीय भागों की आर्थिक स्थिति एक-सी नहीं है। पिछड़े क्षेत्र के लोगों की यह भावना है कि केन्द्र सरकार उनके क्षेत्रों में बड़े-बड़े उद्योग एवं विद्युत् उत्पादन के कारखाने या उद्योग नहीं लगाती है जिसके कारण उनके क्षेत्र पिछड़े रह जाते हैं। कुछ क्षेत्रों के लोगों की यह भावना पर्याप्त सीमा तक व्यावहारिक रूप में सत्य भी है। केन्द्र सरकार ने ऐसी नीति ग्रहण की है जिसके फलस्वरूप: बड़े बड़े उद्योग प्रायः विकसित क्षेत्रों में भी लगाए गए हैं और पिछड़े क्षेत्र आधुनिक संस्कृति की इस सम्पदा से वंचित रहे हैं। इस स्थिति ने भी राज्य स्वायत्तता की मांग को बल प्रदान किया है क्योंकि राज्यों के लोग यह अनुभव करते हैं कि यदि राज्यों के पास अधिक शक्तियां होंगी तो राज्य सरकारें अपने सभी क्षेत्रों के सन्तुलित विकास को विश्वसनीय बना सकती हैं।

4. अत्यधिक केन्द्रीयकरण (Extreme Centralisation)- राज्यों की स्वायत्तता का मुख्य कारण दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा केन्द्रीयकरण है। योजनाबन्दी विकास और देश की सुरक्षा के नाम पर केन्द्र सरकार ने अपने अधिकार क्षेत्र का इतना अधिक विस्तार कर लिया है कि राज्य सरकारों की स्थिति कुछ सीमा तक केन्द्र के अधीन इकाइयों (Subordinate Units) वाली हो गई है। केन्द्रीयकरण का ज्यों-ज्यों अधिक विस्तार होगा राज्य स्वायत्तता की मांग उतना ही अधिक बल ग्रहण करेगी।

5. क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का विकास (Growth of Regional Political Parties) बढ़ रहे केन्द्रवाद के प्रतिक्रमः कई राज्यों में क्षेत्रीय दलों का विकास हुआ है। वर्तमान समय में चुनाव आयोग के पास 2700 से अधिक राजनीतिक दलों के नाम पंजीकृत हैं। इनमें से केवल 8 ही राष्ट्रीय दल हैं तथा 52 क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दल हैं। पंजाब में शिरोमणि अकाली दल, जम्मू-कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस, पी० डी० पी०, तमिलनाडु में डी० एम० के० (D.M.K.) और ए० आई० ए० डी० एम० के० (A.L.A.D.M.K.), आन्ध्र प्रदेश में तेलुगू देशम, असम में असम गण परिषद्, हरियाणा में इण्डियन नेशनल लोकदल एवं जननायक जनता पार्टी, उड़ीसा में बीजू जनता दल तथा कई अन्य राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने विकास किया है। कई राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारें भी बनी हैं। ऐसी सरकारों के निर्माण से राज्य स्वायत्तता की मांग ने अधिक बल पकड़ा है। क्षेत्रीय राजनीतिक दल अपने राज्य के लोगों में यह प्रचार करते हैं कि जिस दल की सरकार केन्द्र में होगी उस दल की राज्य सरकार केन्द्र सरकार के इशारों के अनुसार ही कार्य कर सकती है। अतः राज्यों का संवर्द्धन केन्द्र सरकार द्वारा नहीं। अपितु क्षेत्रीय दल की सरकार द्वारा सम्भव हो सकता है। अपनी सरकारों को केन्द्र के हस्तक्षेप से बचाने के लिए अपने राज्यों के बहुपक्षीय विकास को विश्वसनीय बनाने हेतु क्षेत्रीय दलों ने राज्यों को अधिक शक्तियां देने या राज्य स्वायत्तता की मांग पर विशेष बल दिया है।

6. केन्द्रीयकृत नियोजन (Centralised Planning)- राज्य स्वाधीनता की मांग को उत्पन्न करने में केन्द्रीयकृत नियोजन का

भी हाथ है। राज्य सरकारें अपने स्व-विवेकानुसार विकासशील योजनाओं का निर्माण नहीं कर सकती है। एक तो उनके पास वित्तीय साधनों का अभाव है और द्वितीय उन्हें नीति आयोग (Niti Aayog) द्वारा निर्धारित की गई योजना की रूप रेखा के अनुसार ही अपना नियोजन करना पड़ता है। नीति आयोग एक गैर-संवैधानिक संस्था है जो पूर्णतया केन्द्र सरकार के नियन्त्रणाधीन है। योजना की रूप-रेखा केन्द्र सरकार के स्वविवेकानुसार ही निर्धारित होती है और इस कार्य में राज्य सरकारों की कोई विशेष महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं होती है। केन्द्र और राज्यों में वित्तीय साधनों के वितरण के सन्दर्भ में प्रत्येक पांच वर्ष के पश्चात् जो वित्त आयोग (Finance Commission) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है वह आयोग भी राज्य सरकारों की अपेक्षा केन्द्र सरकार की स्थिति को अधिक सशक्त बनाता है। अब तक राष्ट्रपति द्वारा 15 वित्त आयोगों की नियुक्ति की जा चुकी है। केन्द्रीयकृत नियोजन और वित्तीय साधनों के केन्द्रवाद ने राज्य स्वायत्तता की मांग को प्रबल बनाया है।

7. अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग (Misuse of Article 356)- अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को राज्यों में राष्ट्रपति शासन क्रियान्वित करने की शक्ति देता है। संविधान के इस अनुच्छेद अनुसार यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट से यह विश्वास हो जाए कि उस राज्य का शासन संवैधानिक व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य नहीं कर रहा है तो राष्ट्रपति उस राज्य की सरकार को भंग करके वहां राष्ट्रपति शासन क्रियान्वित कर सकता है। राज्यपाल की रिपोर्ट प्राप्त किए बिना भी राष्ट्रपति किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन क्रियान्वित करने का अधिकार रखता है। राष्ट्रपति ने अनेक बार इस अधिकार का उपयोग किया है। कुछ विपक्षी दलों की यह सशक्त मांग है कि अनुच्छेद 356 को संविधान में से निलम्बित किया जाए क्योंकि केन्द्र सरकार इस अनुच्छेद का दुरुपयोग करके राज्यों में विपक्षी दलों की सरकारों को चलने नहीं देती है।

8. राज्यपालों की पक्षपाती भूमिका (Partisan Role of Government) - राज्य का कार्यकारी मुखिया गवर्नर ही होता है। गवर्नर के नाम पर ही राज्य का प्रशासन चलाया जाता है। राज्य के मुख्यमन्त्री और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल ही करता है। राज्य के संवैधानिक ढांचे की विफलता के सन्दर्भ में रिपोर्ट राष्ट्रपति को राज्यपाल ही भेजता है। कई अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के सन्दर्भ में राज्यपाल अपनी स्वविवेक शक्तियों का उपयोग कर सकता है। परन्तु राज्यपाल की नियुक्ति करने या उसे पदच्युत करने हेतु राज्य सरकारें कुछ भी नहीं कर सकती हैं। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होता है। 5 वर्ष के निश्चित कार्यकाल से पूर्व भी राज्यपाल को राष्ट्रपति द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। जुलाई, 2004 में राष्ट्रपति डॉ० कलाम ने हरियाणा के राज्यपाल बाबू परमानन्द, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री विष्णु कांत शास्त्री, गुजरात के राज्यपाल श्री कैलाशचन्द्र त्रिपाठी और गोवा के राज्यपाल श्री केदारनाथ साहनी को राज्यपाल के पद से निश्चित समय से पूर्व ही बर्खास्त कर दिया था। कई ऐसी उदाहरणें हैं जब किसी राज्य के राज्यपाल ने केन्द्र सरकार के स्व-विवेकानुसार राज्य सरकार या विधानसभा को भंग किया और सत्तारूढ़ दल की सरकार बनाने हेतु परोक्ष सहायता की। कुछ विपक्षी दल राज्यपाल के पद को समाप्त करने के पक्ष में हैं क्योंकि राज्यपाल के माध्यम से केन्द्र सरकार राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप करती है। इसके अतिरिक्त कई राज्यपाल केन्द्र सरकार को सन्तुष्ट करने के लिए विपक्षी दलों के विरुद्ध पक्षपाती भूमिका अभिनीत करते हैं। राज्यपाल की ऐसी भूमिका और वर्तमान संवैधानिक स्थिति ने राज्य स्वाधीनता की मांग को अत्यधिक बल दिया है।

9. राज्यों में केन्द्रीय सशस्त्र बलों को तैनात करना (Deployment of Central Armed forces in the States)- राज्य स्वायत्तता की मांग करने वाला शक्ति को किसी भी राज्य में तैनात कर सकता है। सामान्यतः यह कार्य राज्य सरकारों की सम्मति से होना चाहिए, परन्तु संघ सरकार, राज्य सरकार की इच्छा के विरुद्ध भी किसी राज्य में अपना कोई सशस्त्र बल तैनात कर सकती है। संघ सरकार ऐसा कार्य इस आधार पर कर सकती है कि उस राज्य में केन्द्रीय दफ्तरों और केन्द्रीय सम्पदा की सुरक्षा हेतु केन्द्रीय सशस्त्र बलों का होना अनिवार्य है। विपक्षी दल इस व्यवस्था के विरुद्ध हैं और उनकी यह मांग है कि केन्द्र सरकार को सम्बद्ध राज्य सरकारों की सम्मति के बिना किसी राज्य में केन्द्रीय सशस्त्र सेना लगाने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

10. अखिल भारतीय सेनाओं के सदस्यों को राज्य सरकारों के पद पर लगाना (Employment of the members of All India Services on the posts of the State Government)- राज्य स्वायत्तता की मांग करने वाले इस व्यवस्था के भी विरुद्ध हैं कि राज्य सरकारों के उच्च पदों पर अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्य लगाए जाएं। विपक्षी दलों का यह विचार है कि राज्य सरकारों के पद पर लगे अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों द्वारा केन्द्र सरकार राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप कर

सकती है। उनका यह मत है कि ऐसी व्यवस्था उचित संघात्मक प्रणाली और राज्य स्वाधीनता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

11. संवैधानिक संशोधन के विषय में राज्यों की महत्वहीन भूमिका (Insignificant Role of the States with regard to Constitutional Amendments)- हमारे देश में राज्यों का अपना पृथक् संविधान नहीं है। एक ही संविधान में केन्द्र और राज्य सरकारों के विषय में व्यवस्थाएं की गई हैं। परन्तु इस संविधान में संशोधन करने के विषय में राज्यों की कोई विशेष भूमिका नहीं है। संविधान में संशोधन करने के लिए राज्य सरकारें या राज्य विधानमण्डल पहल नहीं कर सकते। उन्हें यह अधिकार भी नहीं है कि वे प्रस्ताव पारित करके संविधान में संशोधन करने का सुझाव दे सकें। राज्य विधानमण्डलों के पास पुष्टि के लिए केवल उन संशोधनों को भेजा जाता है जिनका सम्बन्ध राज्यों के साथ है और जिन्हें संसद पहले ही पारित कर चुकी होती है। संसद द्वारा पारित किए ऐसे संशोधनों का केवल आधे राज्य विधानमण्डलों द्वारा अनुमोदन होना अनिवार्य है। स्पष्ट है कि संवैधानिक संशोधनों के विषय में राज्यों की स्थिति महत्वहीन है।

राज्य स्वायत्तता की मांग में क्या-क्या सम्मिलित है ? (WHAT IS INCLUDED IN THE DEMAND FOR STATE AUTONOMY?)

1983 में केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर पूर्ण विचार करने के लिए केन्द्र सरकार ने सरकारिया आयोग की नियुक्ति की थी। इस आयोग के पास विभिन्न राजनीतिक दलों और राज्य सरकारों ने केन्द्र-राज्य के सम्बन्धों के सन्दर्भ में अपने विचार लिखित रूप में दिए थे। इसके अतिरिक्त विपक्षी दलों ने अपने समारोहों में राज्यों को अधिक शक्तियां देने के सन्दर्भ में कई प्रस्ताव पारित किए हैं। कई राजनीतिक दलों ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र (Election Manifestoes) में भी केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में कुछ मांगें अंकित की हैं। केन्द्र राज्य सम्बन्धों के सन्दर्भ में कई राज्य सरकारों और राजनीतिक दलों ने भी समयानुसार अपने-अपने ज्ञापन (Memorandum) दिए हैं। इन सभी प्रावधानों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि निम्नलिखित मांगें राज्य स्वायत्तता की मांग में सम्मिलित हैं-

1. राज्यपाल का पद (Office of Governor) - राज्यपाल के पद को या तो समाप्त किया जाए अन्यथा इसमें महत्वपूर्ण सुधार किए जाएं। सुधारों का उद्देश्य राज्यपाल को केन्द्र सरकार के शिकंजे से स्वतन्त्र करवाना होना चाहिए। यदि राज्यपाल के पद को देखना है तो राज्यपाल की स्थिति उचित संवैधानिक मुखिया वाली होनी चाहिए। राज्यपाल को स्वविवेक शक्तियां प्राप्त नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसी शक्तियां दी जानी अनिवार्य हैं तो उन शक्तियों के उपयोग सम्बद्ध नियम निश्चित होने चाहिए। राज्यपाल केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि नहीं, अपितु राज्य सरकार का प्रतिनिधि होना चाहिए। उसकी नियुक्ति करने और पदच्युत करने हेतु राज्य सरकार को शक्ति प्राप्त होनी चाहिए।

2. आयोगों की स्थापना में राज्यों की सहभागिता (Participation of States in the appointment of Commission) - राज्य स्वायत्तता की मांग करने वाले यह चाहते हैं कि जिन आयोगों का सम्बन्ध राज्यों से भी होता है, उन आयोगों की स्थापना में राज्यों को सहभागी बनाया जाए। उदाहरणार्थ वित्त आयोग (Finance Commission), निर्वाचन आयोग (Election Commission), अनुसूचित जातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग (National Commission for Scheduled Castes), अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग (National Commission for Scheduled Tribes), अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग (National Commission for Minorities), राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग (National Backward Class Commission), नीति आयोग (Niti Aayog) आदि कुछ ऐसे आयोग हैं जिनकी कार्यशीलता राज्यों को भी प्रभावित करती है।

3. अवशिष्ट शक्तियां (Residuary Powers) - संविधान ने अवशिष्ट शक्तियां केन्द्रीय संसद को दी हैं। राज्य स्वाधीनता के समर्थक यह मांग करते हैं कि अवशिष्ट शक्तियां राज्य विधानमण्डलों को दी जाएं और इन विषयों के सन्दर्भ में कर लगाने की शक्ति भी राज्य सरकारों के पास हो।

4. विधेयकों की स्वीकृति के सन्दर्भ में (With regard to assenting of the Bills)- राज्य के राज्यपाल को किसी भी

विधेयक को राष्ट्रपति के विचार हेतु आरक्षित रखने का अधिकार नहीं होना चाहिए। राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक को स्वीकृति देनी राज्यपाल के लिए भी बंधनकारी होनी चाहिए। अन्य शब्दों में, राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को अपनी स्वीकृति देने से राज्यपाल इन्कार न कर सके।

5. केन्द्र के स्वविवेक की समाप्ति (End of Centre's discretion) - वित्तीय विषयों के संदर्भ में केन्द्र के पास स्वविवेक शक्तियां हैं। कुछ करों की आय का वितरण केन्द्र सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। राज्यों को वित्तीय सहायता अनुदान देने का कार्य भी केन्द्र सरकार की इच्छा पर आधारित है। राज्य स्वाधीनता के समर्थक यह मांग करते हैं कि केन्द्र की ऐसी स्वविवेक शक्ति को समाप्त किया जाना चाहिए और केन्द्र एवं राज्यों में करों के वितरण के संदर्भ में सिद्धान्त निश्चित होने चाहिए।

6. अनुच्छेद 249 और 356 की समाप्ति (Abolition of Articles 249 and 356)- अनुच्छेद 249 के अधीन राज्यसभा को एक विशेष तरह का प्रस्ताव पारित करने का अधिकार है। यदि राज्यसभा अपने दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि राज्य सूची में अंकित किसी विषय पर केन्द्रीय संसद द्वारा अधिनियम बनाना राष्ट्रीय हितों में है तो केन्द्रीय संसद उस विषय पर अधिनियम बना सकती है। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को राज्यों में राष्ट्रपति शासन क्रियान्वित करने की शक्ति दी गई है। राज्य स्वाधीनता के समर्थक इन दोनों अनुच्छेदों को संविधान में से निलम्बित करने की मांग करते हैं।

7. राज्य-सभा में राज्यों से समान प्रतिनिधित्व (Equal Representation of States in the Rajya Sabha)-वर्तमान समय में राज्यसभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या पर आधारित है। प्रत्येक राज्य को उसकी जनसंख्या के अनुपात अनुसार राज्यसभा के स्थान मिलते हैं। राज्य स्वायत्तता के समर्थक यह मांग करते हैं कि दूसरे सदन में जनसंख्या के आधार पर राज्यों का प्रतिनिधित्व गैर-संघात्मक है। अतः इस व्यवस्था को समाप्त करके राज्यसभा में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।

8. शक्तियों के विभाजन में परिवर्तन (Changes in the division of powers) राज्य स्वायत्तता के समर्थक यह मांग करते हैं कि उन सभी विषयों को राज्य सूची में पुनः अंकित किया जाना अनिवार्य है जो विषय संवैधानिक संशोधनों द्वारा राज्य-सूची में से निलम्बित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त संघ-सूची और अनुवर्ती सूची में से कुछ अन्य विषय राज्य सूची में अंकित किए जाने चाहिए ताकि राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में संवर्द्धन न हो सके।

9. राज्यों को अधिक वित्तीय साधन देने (Giving of more financial resources to the States) संविधान में ऐसे परिवर्तन किए जाने चाहिए जिनके फलतः राज्य सरकारों को और अधिक वित्तीय स्रोत प्राप्त हों। राज्यों को महत्वपूर्ण वित्तीय स्रोत दिए जाने चाहिए ताकि केन्द्र पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता समाप्त हो सके। इस वित्तीय निर्भरता को समाप्त किए बिना राज्य स्वायत्तता की प्राप्ति असम्भव है।

10. नियोजन में राज्य सरकारों की सहभागिता (Participation of State Governments in Planning)-राज्य स्वायत्तता की मांग करने वाले यह आकांक्षा रखते हैं कि नियोजन के कार्य में केन्द्र सरकार का एकाधिकार (Monopoly) समाप्त होना चाहिए। योजना आयोग (Planning Commission) के स्थान पर कोई ऐसी संवैधानिक संस्था होनी चाहिए जिसके निर्माण में राज्य सरकारों का भी उचित हाथ हो। इसके अतिरिक्त कोई भी योजना राज्य सरकारों पर थोपी न जाए, परन्तु योजनाओं के निर्माण में राज्यों की सहभागिता को विश्वसनीय बनाया जाए। इसके अतिरिक्त किसी राज्य की सम्मति के बिना उस राज्य के सन्दर्भ में किसी विकासशील योजना को क्रियान्वित न किया जाए। बड़े-बड़े उद्योग स्थापित करने के सन्दर्भ में भी राज्यों को स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और इस विषय हेतु केन्द्र सरकार पर निर्भरता को समाप्त किया जाना चाहिए।

11. ऋण के सन्दर्भ में (With regard to Loans) – वर्तमान व्यवस्था के अनुसार राज्य सरकारों को बीमा निगम या राष्ट्रीयकृत बैंकों से बड़े ऋण लेने की आज्ञा नहीं है। राज्य सरकारें किसी प्रकार की विदेशी वित्तीय सहायता भी प्राप्त नहीं कर सकती हैं। राज्य स्वायत्तता के समर्थक यह मांग करते हैं कि कुछ निश्चित परिस्थितियों में राज्य सरकारों को ऋण लेने की आज्ञा होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की सम्मति से विदेशी सहायता प्राप्त करने का भी अधिकार राज्य सरकारों को दिया जाना चाहिए।

12. मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध जांच आयोगों की नियुक्ति (Appointment of Inquiry Commissions against State Chief Ministers) वर्तमान समय में यह व्यवस्था है कि किसी राज्य के मुख्यमन्त्री के विरुद्ध लगाए गए दोषों की समीक्षा हेतु केन्द्र सरकार जांच आयोग को नियुक्त कर सकती है। राज्य स्वायत्तता के समर्थकों की यह मांग है कि मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध जांच आयोग को नियुक्त करने की वर्तमान व्यवस्था को समाप्त किया जाए क्योंकि यह व्यवस्था केन्द्र सरकार को मनमानी करने की शक्ति देती है। मुख्यमन्त्री के विरुद्ध लगाए गए दोषों की समीक्षा हेतु लोकपाल (Lokpal) या लोक आयुक्त (Lok Ayukt) की संस्था होनी चाहिए। ऐसी संस्थाओं की स्थायी व्यवस्था होनी अनिवार्य है ताकि मुख्यमन्त्री के विरुद्ध कोई भी प्रार्थना-पत्र किसी भी समय इस संस्था को दिया जा सके।

राज्य-स्वायत्तता के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क (Arguments in Favour of and Against State Autonomy) -

सतही तौर पर उचित प्रतीत होने के बावजूद भी भारत में राज्यों की स्वायत्तता एक विवाद का विषय रही है। विद्वानों ने इसके पक्ष एवं विपक्ष में अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं।

सर्व प्रथम हम उन विद्वानों के तर्कों का उल्लेख करेंगे, जो राज्यों की स्वायत्तता का समर्थन करते हैं। इन विद्वानों के **प्रमुख तर्क** इस प्रकार हैं।

1. राज्यों की स्वायत्तता की माँग, स्वतन्त्रता की माँग नहीं है, बल्कि यह भारत के संघात्मक ढांचे के अन्तर्गत राज्यों के समुचित अधिकारों की माँग है। इसीलिए इससे देश के विघटन का कोई खतरा नहीं हो सकता है।
2. राज्यों के कार्यों में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। आर्थिक नियोजन और ग्रामीण विकास सम्बन्धी इनके बढ़ते हुए कार्यों की दृष्टि से इन्हें वित्तीय मामलों में केन्द्र पर आश्रित नहीं होना चाहिए। पृथक वित्तीय साधनों के उपलब्ध हो जाने पर राज्य विकास-सम्बन्धी अपने दायित्वों को पूरा करने में सक्षम होंगे।
3. राज्यों की स्वायत्तता की माँग इसलिए भी उचित है, क्योंकि राज्यों के स्वायत्त हो जाने पर केन्द्र को राज्यों के साथ सौतेला व्यवहार करने का अवसर ही नहीं मिल पाएगा। प्रायः ऐसा देखने में आया है कि केन्द्र अनुदान देते समय उन राज्यों के साथ सौतेला व्यवहार करता है, जिनमें केन्द्र से भिन्न किसी अन्य दल की सरकार होती है और उन राज्यों का पक्ष लेता है, जहाँ उसी दल की सरकार होती है, जिसकी केन्द्र में होती है। स्पष्ट है कि यदि राज्यों को स्वायत्तता प्रदान कर दी जाएगी, तो केन्द्र द्वारा अपनाए जाने वाला यह दोहरा मापदण्ड समाप्त हो जाएगा।
4. राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करने से अनुदानों की प्रक्रिया एवं शैली को लेकर किए जाने वाला भेदभाव समाप्त हो जाएगा। केन्द्र सरकार द्वारा किए जाने वाला भेदभाव इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता कि कुछ वर्ष पहले गेहूँ पर सरकार द्वारा दिया जाने वाला अनुदान 33 रुपये प्रति कुन्टल था, जब कि चावल पर यह अनुदान मात्र 4 पैसे प्रति कुन्टल आता था। स्पष्ट है कि ऐसे अनुदान का लाभ उत्तरी राज्यों को ही मिल सकता है, जहाँ लोग गेहूँ अधिक खाते हैं; दक्षिणी राज्यों को नहीं, जहाँ व्यक्ति चावल अधिक खाते और उगाते हैं। राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करके इस तरह का भेदभाव कम किया जा सकता है।
5. राज्यों की स्वायत्तता भारत में सच्ची व वास्तविक संघात्मक व्यवस्था कायम करने में कारगर सिद्ध होगी। वर्तमान समय में तो राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी ही है, क्योंकि इन्हें राज्य सूची में दिए गए विषयों पर भी कानून बनाने का अनन्य अधिकार प्राप्त नहीं है। अतः स्वायत्त राज्यों की अवधारणा समान और स्वायत्त भागीदारी की संघात्मक व्यवस्था की स्थापना के अनुकूल है।
6. राज्यों की स्वायत्तता की माँग को स्वीकार करने का एक लाभ यह भी होगा कि राज्यों के स्वायत्तशासी बन जाने के बाद इनके अन्दर उत्तरदायित्व की भावना पैदा हो जाएगी। ऐसा हो जाने पर ये अपनी आय के स्रोतों का पता लगाएँगे और केन्द्र पर निर्भर रहना छोड़ देंगे।

राज्यों की स्वायत्तता के विरुद्ध विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे-

1. राज्यों की स्वायत्तता के विरुद्ध इनका प्रमुख तर्क यह है कि इस माँग को स्वीकार करने से देश अराजकता और विघटन की ओर उन्मुख हो जाएगा, जिसके परिणामस्वरूप न तो भारतीय संघ की सम्प्रभुता अक्षुण्ण रहेगी और न ही राज्यों की स्वायत्तता। वस्तुतः देश की सुदृढ़ता ही राज्यों की स्वायत्तता की सर्वोत्तम गारन्टी है। राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करने से देश की अखण्डता एवं सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है।
2. राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करने का एक परिणाम यह होगा कि इससे राज्यों में तानाशाही सरकारों की स्थापना हो जाएगी अर्थात् अपने-अपने राज्यों के अन्दर मुख्य मन्त्री निरंकुश हो जाएंगे और वे मनमाने ढंग से कार्य करेंगे। इस तरह राज्य-स्वायत्तता व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचार के अनुकूल नहीं है।
3. राज्यों की स्वायत्तता की माँग इनकी स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता की माँग का प्रथम सोपान है। आज यदि राज्यों की स्वायत्तता को स्वीकार कर लिया जाता है, तो कल ये पूर्ण स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता की माँग प्रस्तुत कर देंगे। स्पष्ट है कि राज्यों की स्वायत्तता की माँग की स्वीकृति से उनकी स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता की माँग को बल मिलेगा।
4. क्षेत्रीय राजनीतिक दलों और उनके नेताओं द्वारा राज्यों की स्वायत्तता की माँग एक सोची-समझी राजनीतिक चाल प्रतीत होती है। इस माँग के द्वारा कुछ तत्त्व अपने संकीर्ण राजनीतिक हितों की पूर्ति करना चाहते हैं। यह माँग विशेष रूप से उन नेताओं द्वारा प्रस्तुत की गयी है, जो राज्य में अपनी निरपेक्ष सत्ता कायम करना चाहते हैं। वस्तुतः राज्यों की स्वायत्तता की माँग का समर्थन करके ऐसे नेता विशुद्ध राजनीतिक खेल खेल रहे हैं।
5. राज्यों की स्वायत्तता का समर्थन करने वाली राजमन्त्र समिति के सुझाव भारतीय संविधान की आत्मा को ही बदल डालेंगे। यदि इस समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुये, न्याय, नियोजन, विदेशी मुद्रा, औद्योगिक लाइसेन्स आदि सब कुछ राज्यों के हाथों में सौंप दिया जाए, तो इन राज्यों का दर्जा स्वाधीन राज्यों से कम नहीं रह जाएगा। स्पष्ट है कि राज्यों की स्वायत्तता एक राष्ट्र के अन्दर अनेक राष्ट्रों को जन्म दे सकती है।
6. यदि जम्मू-कश्मीर की स्वायत्तता को सुनिश्चित करने वाले संविधान के अनुच्छेद 370 को सभी राज्यों पर लागू कर दिया जाए, तो यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इससे कैसी स्थिति उत्पन्न होगी। इसका अन्दाज जम्मू-कश्मीर राज्य की वर्तमान स्थिति से भली-भाँति लगाया जा सकता है, जहाँ अनुच्छेद 370 के रहते हुए भारतीय संसद का कोई भी कानून मान्य नहीं है। स्पष्ट है कि राज्यों की स्वायत्तता की माँग को स्वीकार करना, राज्यों की विस्फोटक स्थिति को नियन्त्रित करने में एक कानूनी अड़चन बन सकता है।
7. राज्यों की स्वायत्तता की माँग को ऐसी स्थिति में स्वीकार करना और भी अधिक भयानक सिद्ध हो सकता, जब कि भारत के अपने पड़ोसी राष्ट्रों-विशेषकर पाकिस्तान और चीन से सम्बन्ध मधुर नहीं हैं। भारत में राज्यों की स्वायत्तता, विशेषकर सीमान्त राज्यों की स्वायत्तता का लाभ ये राष्ट्र उठा सकते हैं और देश के टुकड़े-टुकड़े करा सकते हैं।
8. भारत को आन्तरिक परिस्थितियाँ भी राज्यों को स्वायत्तता प्रदान करने के अनुकूल नहीं है। ऐसे समय में जब कि देश साम्प्रदायिकता के दौर से गुजर रहा हो और जब किसी-न-किसी राज्य में हर सप्ताह कोई न कोई विस्फोट हो जाता हो, राज्य को स्वायत्तता प्रदान करने की बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है।

भारतीय संघवाद में उभरती प्रवृत्तियाँ

(EMERGING TRENDS IN INDIAN FEDERALISM)

पिछली अर्द्ध-शताब्दी से भारतीय संघवाद कार्य कर रहा है। इस समय के मध्य भारतीय संघवाद की कार्य प्रणाली ने कुछ प्रवृत्तियों चुनौतियों को हमारे सम्मुख लाया है। ऐसी कुछ प्रवृत्तियाँ चुनौतियाँ इस प्रकार हैं-

1. केन्द्रवाद (Centralism)- भारतीय संवैधानिक प्रणाली का इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि पिछली अर्द्ध-शताब्दी से भारत में केन्द्रवाद की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। केन्द्र सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए राज्य-सूची (State List) में से कई विषयों को निलम्बित करके समवर्ती सूची (Concurrent List) में शामिल किए गए हैं। शक्तियों का केन्द्रीयकरण न केवल सरकारी स्तर पर ही अपितु राजनीतिक दलों के स्तर पर भी हुआ है। राष्ट्रीय स्तर के लगभग प्रत्येक राजनीतिक दल की शक्तियां दल के उच्च कमान (High Command) में केन्द्रित होकर रह गई हैं।

2. राज्यों में केन्द्र का हस्तक्षेप (Interference by the Centre in the States)- भारतीय संघवाद की कार्यप्रणाली ने राज्यों में बढ़ रहे केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप के दोष को भी प्रस्तुत किया है। राज्यों के गवर्नरों (राज्यपाल) के द्वारा राज्य के कार्यों में केन्द्र सरकार के द्वारा हस्तक्षेप करने के कई उदाहरण सामने आए हैं। इतना ही नहीं, अपितु संविधान के अनुच्छेद 356 का प्रयोग करके कई राज्य सरकारों को समाप्त किया गया और वहां राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1977 में जनता पार्टी की सरकार ने उन 9 राज्यों की विधान सभाओं को भंग करवा कर वहां राष्ट्रपति शासन लागू किया था, जहां कांग्रेस पार्टी की सरकार कार्यरत थी। इसी प्रकार 1980 में कांग्रेस (आई) को केन्द्र सरकार ने उन 9 राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया था, जहां गैर-कांग्रेसी दल की सरकारें कार्यरत थीं।

3. राज्यों के पास वित्तीय साधनों का अभाव (Financial Paucity with the States)- राज्यों के पास आय के साधन बहुत सीमित हैं। इसी कारण राज्यों को केन्द्र की वित्तीय सहायता पर निर्भर होना पड़ता है। केन्द्र सरकार राज्यों को आर्थिक सहायता प्रदान करती है। ऐसी सहायता देने के लिए कठोर रूप में कोई निश्चित कानूनी व्यवस्था नहीं है। विरोधी दल अधिकांशतः यह दोष लगाते हैं कि केन्द्र में शासक दल राज्यों को वित्तीय सहायता देते समय एक ही नीति का पालन नहीं करता अपितु अपने राजनीतिक उद्देश्य को सम्मुख रखकर ऐसी सहायता प्रदान करता है। इसी कारण मार्च, 1983 में कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु तथा पाण्डिचेरी के मुख्य मन्त्रियों द्वारा निर्मित परिषद् (Council) ने यह मांग की थी कि केन्द्र द्वारा राज्यों को प्रदान की गई वित्तीय सहायता निश्चित कानून द्वारा नियमित होनी चाहिए।

4. दोषपूर्ण क्षेत्रीय संगठन (Defective Territorial Organisation)- भारतीय संघ के राज्यों का संगठन मुख्य रूप से भाषा के आधार पर किया गया है। परन्तु भारतीय संघवाद के पिछली अर्द्ध-शताब्दी के कार्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि राज्यों का क्षेत्रीय संगठन कुछ दोषपूर्ण है। इसी कारण कई राज्यों के लोगों द्वारा अन्य राज्यों के निर्माण की मांग की जा रही है। इस दोषपूर्ण संगठन के कारण ही कई राज्यों में परस्पर क्षेत्रीय विवाद बढ़े हैं। क्षेत्रीय विवादों के अतिरिक्त अन्तर्राज्यीय (Inter-State) नदियों के पानी के विभाजन के सम्बन्ध में भी अनेकों विवाद उत्पन्न हुए हैं।

5. अन्तर्राज्यीय परिषद् (Inter-State Council)- राज्यों में परस्पर सहयोग विकसित करने और उनके परस्पर विवादों को सुलझाने के लिए संविधान में एक अन्तर्राज्यीय परिषद् की व्यवस्था की गई है। यह परिषद् राष्ट्रपति द्वारा स्थापित की जाती है। परन्तु मई, 1990 तक इस दिशा में कोई कार्यवाही नहीं की गई थी। 28 मई, 1990 को राष्ट्रपति ने एक आदेश जारी करके अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की थी। प्रधानमंत्री इस परिषद् का अध्यक्ष हैं। सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और 6 कैबिनेट मंत्री इसमें सम्मिलित किए गए हैं। इस परिषद् की स्थापना संघवाद की कार्यशीलता के लिए एक अच्छा कदम है।

6. नए राज्यों की मांग (Demand for New States)- भारत के पृथक् पृथक् क्षेत्रों के लोगों द्वारा पृथक् राज्य बनाने की मांग काफ़ी लम्बे समय से की जा रही है। नवम्बर, 2000 में तीन नए राज्यों छत्तीसगढ़ (Chhattisgarh), उत्तराखण्ड (Uttarakhand) तथा झारखण्ड (Jharkhand) का निर्माण किया गया था। जून, 2014 में तेलंगाना राज्य का निर्माण किया गया था। इन राज्यों के निर्माण के पश्चात् दूसरे क्षेत्रों के लोगों की तरफ से पृथक् राज्य बनाने की मांग और अधिक तीव्र हो गई। विहार में मैथिली प्रदेश (Maithily Pradesh), उत्तर प्रदेश में बुन्देलखण्ड (Bundel Khand) और हरित प्रदेश (Harit Pradesh), महाराष्ट्र के विदर्भ (Vidarbha), कर्नाटक में कोडवा (Kodva), असम में बोडोलैण्ड (Bodoland), पश्चिमी बंगाल में गोरखालैण्ड (Gorkhaland) राज्य बनाने की मांग की जा रही है।

7. केन्द्र की अत्यन्त शक्तिशाली स्थिति (The position of Centre very strong)- प्रत्येक पक्ष में केन्द्र की वर्तमान स्थिति पर्याप्त शक्तिशाली है। केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 356 का अक्सर प्रयोग करके अनेकों बार संघवाद के

सिद्धान्तों की अवहेलना की है। अनेक बार केन्द्रीय सरकार ने राज्यपालों द्वारा उनका दुरुपयोग किया है। आलोचकों का विचार है कि इस अनुच्छेद का सहारा लेकर केन्द्रीय सरकार ने विरोधी दलों की सरकारों को राज्य में प्रफुल्लित नहीं होने दिया तथा राज्यों में संवैधानिक ढांचे की असफलता के पर्दे के पीछे संघवाद के सिद्धान्तों का खुला उल्लंघन किया गया था, विरोधी दल भी यह दोष लगाते थे कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त राज्यों के राज्यपालों ने भी केन्द्रीय सरकार के निर्देश के अनुसार ही रिपोर्ट दी थी। इसके अतिरिक्त नियोजन के केन्द्रित होने तथा राज्यों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता के कारण केन्द्र प्रत्येक पक्ष से राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली बनता जा रहा है।

8. केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों के पुनर्निर्धारण की मांग (Demand for the Re-organisation of Centre-State relations) केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति के बढ़ने के कारण यह मांग बहुत जोर पकड़ रही है कि केन्द्र - राज्यों के सम्बन्धों पर पूर्ण रूप में पुनः विचार किया जाए। इन सम्बन्धों का सर्वेक्षण और विश्लेषण इस तथ्य के प्रसंग में किया जाना चाहिए कि भारतीय संघवाद प्रणाली में राज्यों की स्थिति को शक्तिशाली बनाने की तत्काल आवश्यकता है। इसी कारण दोनों भारतीय साम्यवादी दल, शिरोमणि अकाली दल, डी० एम० के० (D.M.K.), नेशनल कान्फ्रेंस (National Conference), जनता पार्टी, तेलुगू देशम आदि राजनीतिक दल राज्यों की और अधिक शक्तियां सौंपने की जोरदार मांग कर रहे हैं। शिरोमणि अकाली दल, डी० एम० के० और कुछ अन्य क्षेत्रीय दल तो राज्य की स्वायत्तता (State Autonomy) पर जोर दे रहे हैं। 27 अप्रैल, 2007 को केन्द्र की संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार के द्वारा पूर्व मुख्य न्यायाधीश मदन मोहन पुंछी की अध्यक्षता में एक नया आयोग केन्द्र राज्य सम्बन्धों के पुनर्निर्धारण हेतु गठित किया गया था।

9. राज्यपालों की पक्षपाती भूमिका (Partisan Role of the Governors)- केन्द्र सरकार के संकेतों पर कई राज्यों के राज्यपालों ने विरोधी दलों की सरकारों को समाप्त करने में अलोकतन्त्रीय भूमिका अभिनीत की है। 21 फरवरी, 1998 को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने भारतीय जनता पार्टी की कल्याण सिंह के नेतृत्व वाली सरकार को विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध किए बिना ही भंग कर दिया था क्योंकि उसकी सहयोगी लोकतांत्रिक कांग्रेस ने उस सरकार से अपना समर्थन वापिस ले लिया था। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश पर कल्याण सिंह ने विधानसभा में 26 फरवरी, 1998 को अपना बहुमत सिद्ध कर दिया था। इसी तरह का घटनाक्रम फरवरी, 2005 को गोवा राज्य में राज्यपाल एस० सी० जमीर ने दोहराया और भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली मनोहर पारिकर सरकार को बर्खास्त कर दिया था। इस समस्त घटनाक्रम में राज्यपाल की भूमिका सन्देहपूर्ण थी। इस तरह अन्य उदाहरण और भी हैं। यह सब कुछ संघवाद के आदर्शों के विरुद्ध है। इसी कारण कई आलोचक राज्यपाल की पदवी को समाप्त करने की मांग करते हैं।

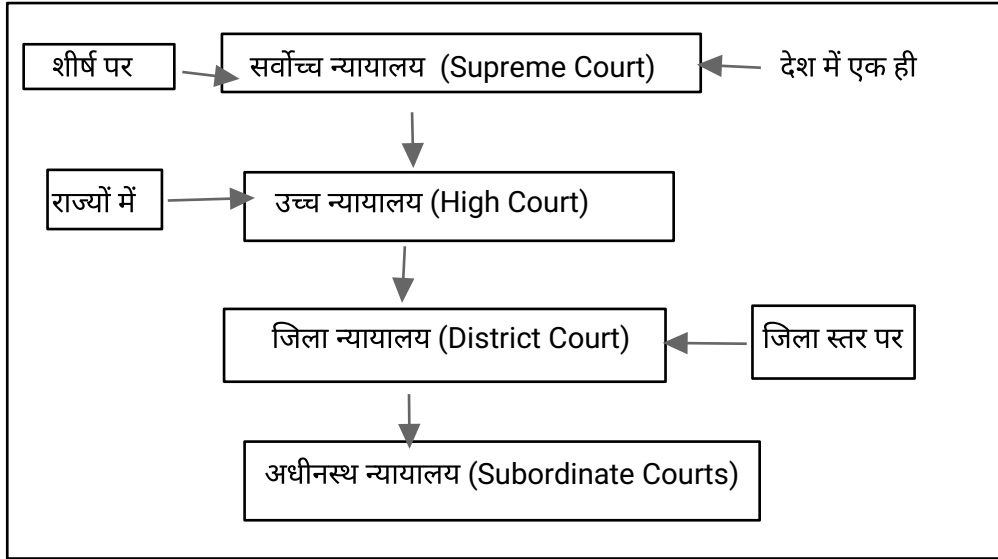
10. संघवाद की कार्यप्रणाली का नवीन रूप (New form of working of Federalism) - 1989 के पश्चात् भारत में संघवाद की कार्यप्रणाली का एक नवीन रूप उभरना आरम्भ हुआ था और वह रूप धीरे-धीरे भारतीय राजनीतिक प्रणाली की अटूट विशेषता बनता जा रहा है। इस नवीन रूप के उभरने में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की बढ़ती संख्या और महत्ता का विशेष हाथ है। कोई भी ऐसा राष्ट्रीय राजनीतिक दल नहीं है जिसने पृथक् पृथक् क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के साथ राजनीतिक समझौते न किए हों प्रथम समूह का नेतृत्व कांग्रेस कर रही है जिसमें दो राष्ट्रीय व कई क्षेत्रीय राजनीतिक दल कांग्रेस के साथ सहयोग कर रहे हैं। द्वितीय समूह में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन में शामिल दल आते हैं। जिसमें एक राष्ट्रीय स्तर का तथा कई क्षेत्रीय दल शामिल हैं। तृतीय समूह में वामपंथी दल आते हैं वर्तमान समय ने भारतीय संघवाद की कार्यप्रणाली को एक नवीन रूप प्रदान किया है। प्रत्येक क्षेत्रीय दल अपने दल अपने समूह के सहयोगी दलों से अपने क्षेत्रीय हितों की सुरक्षा के लिए दबाव डालता है।

निष्कर्ष (Conclusion) - उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संघवाद में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक प्रबल है। इस प्रवृत्ति के प्रतिक्रम के कारण ही राज्यों को आमतौर पर अधिक शक्तियां और विशेष रूप से वित्तीय स्वाधीनता देने की मांग भी ज़ोर पकड़ रही है। वर्तमान परिस्थितियों को सम्मुख रखते हुए हमारा यह सुझाव है कि कम-से-कम वित्तीय क्षेत्र में राज्य सरकारों को अधिक आर्थिक स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए।

Unit-2 न्यायपालिका (Judiciary)

न्यायपालिका सरकार के तीन अंगों में एक प्रमुख अंग होता है। लोकतंत्र में तो किसी भी सरकार की श्रेष्ठता उसकी न्यायपालिका से मानी जाती है। भारत एक संघात्मक राज्य है। यहाँ पर भी न्यायपालिका के तहत सुप्रीम कोर्ट के अधीन कई निम्न न्यायालयों की स्थापना की गयी है। भारत की न्यायपालिका का ढांचा एक विशेष प्रकार है। यहाँ की न्यायपालिका स्वतंत्र एक एकीकृत है।

भारत में न्यायपालिका का एक एकीकृत ढांचा कुछ इस प्रकार है-



सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court)

रचना / संगठन – संविधान के अनुच्छेद 124 में सर्वोच्च न्यायालय के लिए एक मुख्य न्यायाधीश एवं अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई है। आरंभ में सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीशों की कुछ संख्या 8 थी (एक मुख्य न्यायाधीश +7 अन्य न्यायाधीश)। समय समय पर इनकी संख्या बढ़ाई गई है। 2019 में इनकी संख्या बढ़ाकर 34 (एक मुख्य न्यायाधीश + 33 अन्य न्यायाधीश) कर दी गई है। वर्तमान में श्री संजीव खन्ना (2024 में) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश (CJI) हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति– सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यह परंपरा है कि सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश (Senior Most Judge) को ही मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है। किंतु इस परंपरा का कई बार सरकार द्वारा उल्लंघन किया गया है। अप्रैल 1973 में वरिष्ठता में चौथे नंबर के न्यायाधीश ए. एन. रे (A.N Ray) को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया था। जनवरी 1977 फिर से वरिष्ठता के सिद्धांत का उल्लंघन करते हुए जस्टिस ए. एन. रे की सेवानिवृत्ति होने पर जस्टिस एम. एच बेग को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया था। सरकार के इस प्रकार के फैसलों की कड़ी आलोचना की गई थी।

संविधान के अनुच्छेद 124(1) के अनुसार राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से करेगा। किंतु इस बात को लेकर विवाद था कि क्या राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है या नहीं। इस विवाद को समाप्त करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 1973 में निर्णय दिया था कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में मुख्य न्यायाधीश का परामर्श मानना अनिवार्य है तथा मुख्य न्यायाधीश परामर्श देते समय चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों की राय लेगा। 28 Oct 1998 को सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 143 के तहत एक संदर्भ के जवाब में राष्ट्रपति को जब परामर्श देते हुए स्पष्ट किया कि अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए सिफारिश भेजने से पूर्व मुख्य न्यायाधीश द्वारा चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों

के समूह (Collegium) की लिखित स्वीकृति या राय लेनी होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका महत्वपूर्ण है।

न्यायाधीशों की योग्यताएं— संविधान के अनुच्छेद 124(3) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहिए

1. वह भारत का नागरिक होना चाहिए।
2. वह किसी एक या एक से अधिक उच्च न्यायालयों में कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश रहा हो

या

वह किसी एक उच्च न्यायालय या एक से अधिक उच्च न्यायालयों में कम से कम 10 वर्ष तक लगातार वकालत कर चुका हो

3. वह राष्ट्रपति के विचार में एक प्रसिद्ध विधिवेत्ता हो।

न्यायाधीशों का कार्यकाल — भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल तय नहीं किया गया है। संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु पूरी होने तक अपने पद पर बने रहते हैं। यदि वे चाहे तो इससे पहले भी त्यागपत्र दे सकते हैं, संविधान के अनुसार अनुच्छेद 124(4) के अंतर्गत यदि यह अपने कर्तव्यों का ठीक से पालन नहीं करते हैं तो संसद द्वारा इन्हें 'प्रमाणित कदाचार अथवा योग्यता' (Proved Misbehaviour or Incapacity) के आधार पर 'महाभियोग प्रस्ताव' पास करके पद से हटाया जा सकता है।

न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्ते— सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्ते संसद द्वारा तय किए जाते हैं। 30 जनवरी 2018 को संसद में उनके वेतन, भत्ते आदि बढ़ाए थे। वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 2,80,000 रुपए और अन्य न्यायाधीशों को 2,50,000 रुपए मासिक वेतन मिलता है, जो भारत की संचित निधि से दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भत्ते एवं निशुल्क निवास स्थान मिलता है। वित्तीय संकट काल को छोड़कर उनके कार्यकाल में उनके वेतन एवं भत्ते कम नहीं किया जा सकते हैं।

न्यायाधीशों की उन्मुक्तियाँ या प्रतिरक्षा (Immunities of the Judges) - न्यायाधीश स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य कर सकें इसके लिए इनके न्याय-सम्बन्धी कार्यों एवं निर्णयों को आलोचना से मुक्त रखा गया है। यहां तक कि संसद में भी सर्वोच्च न्यायालय के किसी निर्णय अथवा किसी न्यायाधीश के आचरण पर बहस नहीं की जा सकती है। संसद में ऐसा उसी अवस्था में किया जा सकता है, जब किसी न्यायाधीश को उसके पद से हटाने के लिए 'महाभियोग प्रस्ताव' पर किसी सदन में बहस चल रही हो। न्यायाधीशों के फैसले की आलोचना करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध 'न्यायालय की अवमानना' (contempt of Court) की कार्यवाही की जाती है।

पृथक् स्थापना (Separate Establishment)- संविधान के अनुच्छेद 146 में सर्वोच्च न्यायालय की पृथक् स्थापना की व्यवस्था की गयी है। इसके अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति और इनकी सेवा-सम्बन्धी शर्तें सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्वयं तय की जाती हैं। इसके अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय के प्रशासकीय खर्च देश की संचित निधि से किए जाते हैं। इस कारण भी सर्वोच्च न्यायालय संसद अथवा अन्य किसी संस्था के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है।

पद की शपथ (Oath of Office)- संविधान के अनुच्छेद 124(6) के अन्तर्गत प्रत्येक वह व्यक्ति, जो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश अथवा न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है, अपना पद ग्रहण करते समय राष्ट्रपति या उसके द्वारा नियुक्त किसी अन्य अधिकारी के सामने भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा बनाए रखने की शपथ लेता है।

सर्वोच्च न्यायालय का स्थान (Seat of Supreme Court)- सर्वोच्च न्यायालय देश की राजधानी नई दिल्ली में स्थित है, किन्तु अनुच्छेद 130 के अनुसार मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से इसकी बैठक अन्य किसी स्थान पर करने का निर्णय ले सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

(Jurisdiction of the Supreme Court)

सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे बड़ा न्यायालय है। इस नाते इसका क्षेत्राधिकार बहुत व्यापक है। सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है-

1. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)- भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को कुछ मुकदमों के विषय में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। इसका अर्थ यह है कि ये मुकदमे सीधे सर्वोच्च न्यायालय में प्रारंभ किए जा सकते हैं या ले जाए जा सकते हैं अर्थात् इन्हें पहले किसी निम्न स्तरीय न्यायालय में ले जाने की आवश्यकता नहीं होती है। सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है-

(i) अनन्य क्षेत्राधिकार (Exclusive Jurisdiction)- इस श्रेणी में वे विवाद आते हैं, जिनको सुनने का अधिकार किसी अन्य न्यायालय को नहीं बल्कि केवल सर्वोच्च न्यायालय को ही है। संविधान के अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को निम्नलिखित मुकदमों के सम्बन्ध में प्रारंभिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है-

(क) भारत सरकार एवं एक अथवा एक से अधिक राज्यों के बीच उत्पन्न विवाद।

(ख) ऐसे विवाद, जिसमें एक ओर भारत सरकार एवं एक राज्य या एक से अधिक राज्य हों और दूसरी ओर एक या एक से अधिक राज्य हो।

(ग) दो अथवा दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद।

टी.एन. कावेरी संगम बनाम भारत संघ मुकदमे (1990) में दिए गए सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार अन्तर्राज्य जल विवाद भी इस न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार में शामिल हो गए हैं।

(ii) मौलिक अधिकारों की रक्षा के संबंध में क्षेत्राधिकार (Concurrent Original Jurisdiction) – मौलिक अधिकारों की रक्षा का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय के साथ-साथ उच्च न्यायालयों को भी सौंपा गया है। संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिबन्ध (Prohibition), उत्प्रेषण (Certiorari) एवं अधिकार-पृच्छा (Quo-uarranto) के लेख (Writs) जारी कर सकता है।

(iii) संविधान का संरक्षक (Guardian of the Constitution) - भारतीय संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। यदि संसद कोई ऐसा कानून बना दे या कार्यपालिका कोई ऐसा आदेश जारी कर दे, जो संविधान का उल्लंघन करता हो, तो सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनर्निरीक्षण की अपनी शक्ति का प्रयोग करके उसे असंवैधानिक (Unconstitutional) घोषित कर सकता है। अपनी इसी शक्ति का प्रयोग करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण-सम्बन्धी अधिनियम, और 1971 में देशी राजाओं के प्रिवी पर्स समाप्त करने वाले अध्यादेश को असंवैधानिक घोषित कर दिया था। 42वें संशोधन अधिनियम (1976) द्वारा संसद को, अनुच्छेद 368 के तहत, संविधान के किसी भी अनुच्छेद में संशोधन करने का अधिकार दे दिया गया था, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने मिन्वा मिल्स बनाम भारत संघ मुकदमे (1980) में निर्णय दिया कि यह व्यवस्था 'संविधान के मूलभूत ढाँचे' (Basic Structure of the Constitution) का उल्लंघन करती है।

(iv) राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित विवाद (Disputes concerning Elections of President and Vice-President)- 39वें संशोधन अधिनियम, (1975) द्वारा राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित विवादों का निर्णय करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय छीन लिया गया था और यह व्यवस्था की गयी थी कि राष्ट्रपति एवं उप-राष्ट्रपति के चुनाव-संबंधी विवादों का निपटारा करने के लिए संसद कानून बनाकर किसी संस्था अथवा सत्ता की स्थापना करेगी। , परंतु इससे पहले इस विषय में उसका निर्णय अन्तिम होता था। 44वें संशोधन अधिनियम (1978) के द्वारा राष्ट्रपति एवं उप-

राष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित विवादों एवं सन्देहों को सुनने का अधिकार पुनः सर्वोच्च न्यायालय को दे दिया गया। इस प्रकार अब ये विवाद सीधे सर्वोच्च न्यायालय ले जाए जा सकते हैं।

2. अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)- सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार में ऐसे मुकदमे आते हैं, जिनका आरम्भ निचले न्यायालयों से होता है। इस क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनता है। सर्वोच्च न्यायालय के इस क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है-

(i) संवैधानिक मामले (Constitutional)- संविधान के अनुच्छेद 132 के अन्तर्गत यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि इस मुकदमे में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में उक्त मुकदमे की अपील की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा न करें, तो अनुच्छेद 136 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय स्वयं भी ऐसी अपील करने की विशेष आज्ञा दे सकता है। यदि वह सन्तुष्ट हो कि मुकदमा इस प्रकार का है। इस प्रकार से सर्वोच्च न्यायालय संविधान का अन्तिम व्याख्याकार बन जाता है।

(ii) दीवानी मामले (Civil)-मूल संविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय में किसी उच्च न्यायालय के केवल ऐसे निर्णय के विरुद्ध अपील को जा सकती थी, जिसमें झगड़े की राशि ₹ 20 हजार या इससे अधिक मूल्य की हो। आगे चलकर पहले इस शशि की सीमा को बढ़ाकर ₹ 50,000 और बाद में ₹ 1,00,000 कर दिया गया। किंतु 30वें संशोधन अधिनियम (1972) द्वारा धन-राशि की इस सीमा को हटा दिया गया और निश्चित किया गया कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे दीवानी मुकदमे की अपील की जा सकेगी, जिसमें अनुच्छेद 133 के तहत उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाए कि इस विवाद में कानून से सम्बन्धित कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है या विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा तय किए जाने योग्य है।

(iii) फौजदारी मामले (Criminal)- संविधान के अनुच्छेद 134 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध निम्नलिखित दो प्रकार के फौजदारी मुकदमों की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है-

(क) यदि मुकदमे में किसी अधीनस्थ न्यायालय ने अपराधी को बरी कर दिया हो, किन्तु अपील करने पर उच्च न्यायालय ने उसको मृत्यु दण्ड दिया हो।

(ख) यदि उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय में चल रहे किसी मुकदमे को अपने पास मंगवा लिया हो और अपराधी को मृत्यु दण्ड दिया हो।

इसके अतिरिक्त, यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने योग्य है। तो सर्वोच्च न्यायालय में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील दायर की जा सकती है।

(iv) विशेष अपीलें सुनना (Special Appellate Jurisdiction)- संविधान के अनुच्छेद 136 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय अपनी इच्छानुसार पीड़ित व्यक्ति को उच्च न्यायालय या देश के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण (सैनिक न्यायालय या न्यायाधिकरण को छोड़कर) के निर्णय, आज्ञा (Decree) दण्ड या आदेश के विरुद्ध अपील करने की विशेष आज्ञा दे सकता है। यदि वह यह अनुभव करे कि मामले में प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों (Principles of Natural Justice) का उल्लंघन हुआ है। सर्वोच्च न्यायालय की यह शक्ति बहुत महत्वपूर्ण है।

3. परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) - संविधान के अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत राष्ट्रपति कानून के किसी प्रश्न या सार्वजनिक महत्व के मामले में सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले सकता है, किन्तु राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ने 2 जून, 1974 को राष्ट्रपति को परामर्श देते हुए कहा था कि अनुच्छेद 62 के अनुसार राष्ट्रपति का चुनाव पूर्व राष्ट्रपति के कार्यकाल के समाप्त होने से पहले कराया जाना आवश्यक है। भले ही उस समय कोई विधान सभा भंग हो।

4. अभिलेख न्यायालय (Court of Record) - सर्वोच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय भी है। इसका अर्थ यह है कि इसकी समस्त कार्यवाहियों एवं निर्णयों को रिकार्ड रखने के लिए प्रकाशित किया जाता है। इसके निर्णय न्यायिक दृष्टांत

(Judicial Precedent) के रूप में निचली अदालतों में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ये निर्णय निचली अदालतों के लिए बाध्यकारी होते हैं और निचली अदालतों द्वारा इनको समान किस्म के मुकदमों में लागू किया जाता है।

5. विविध शक्तियाँ (Miscellaneous Powers) - उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय को कुछ विविध शक्तियाँ भी प्राप्त हैं: जैसे-

(i) संविधान के अनुच्छेद 137 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों पर पुनर्विचार (Review) करने की शक्ति प्राप्त है।

(ii) सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक कार्यवाही को नियमित करने के लिए समय-समय पर नियम बनाने का अधिकार है।

(iii) 42वें संशोधन अधिनियम, (1976) द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 139-A जोड़ा गया है। जिसके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह शीघ्र न्याय दिलाने के उद्देश्य से किसी मुकदमे को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में भेज सकता है।

(iv) सर्वोच्च न्यायालय को अपने पदाधिकारियों की नियुक्तियाँ एवं सेवा-शर्तें निर्धारित करने का अधिकार है। यह नियुक्तियाँ वह स्वयं या संघ लोक सेवा आयोग के परामर्श से करता है।

स्थिति (Position)- निसन्देह, भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक शक्तियों प्रदान की गयी हैं, तब भी यह अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय जितना शक्तिशाली नहीं है, क्योंकि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संसद या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून को उसी स्थिति में असंवैधानिक घोषित कर सकता है, यदि उसने कानून निर्माण करते समय कानून-निर्माण की अपनी शक्ति का उल्लंघन किया हो। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के विपरीत, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय इस आधार पर किसी कानून को असंवैधानिक घोषित नहीं कर सकता है कि यह प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है। क्योंकि भारतीय संविधान में अमेरिकी संविधान में प्रयुक्त 'कानून की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) शब्दावली के स्थान पर 'कानून द्वारा स्थापित विधि' (Procedure Established by Law) शब्दावली का प्रयोग किया गया है। फिर भी, जिस तरह भारत में सर्वोच्च न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है और इसे संविधान की व्याख्या करने का अधिकार दिया गया है। उससे स्पष्ट है कि इसकी स्थिति बहुत सुदृढ़ है।

उच्च न्यायालय (High Courts)

भारत में एकीकृत न्याय व्यवस्था मौजूद है। जिसके शिखर पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित है। इसके अधीन विभिन्न उच्च न्यायालय कार्यरत हैं। संविधान के अनुच्छेद 214 के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 231 में यह भी कहा गया है कि संसद दो या दो से अधिक राज्यों और संघीय क्षेत्र के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था कर सकती है। इसी दृष्टि से संसद द्वारा पंजाब, हरियाणा एवं संघीय क्षेत्र चण्डीगढ़ के लिए चण्डीगढ़ स्थित एकल उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गयी है। 2013 में मणिपुर, मेघालय एवं त्रिपुरा में पृथक उच्च न्यायालयों की स्थापना के बाद देश में उच्च न्यायालयों की संख्या बढ़कर 24 हो गयी है।

रचना (Composition) - संविधान के अनुच्छेद 216 में उच्च न्यायालयों की रचना का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं। राज्य की आवश्यकता को देखते हुए इनकी संख्या राष्ट्रपति द्वारा तय की जाती है। जैसे पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या 68 तय की गयी है, जब कि हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय में इनकी संख्या 11 रखी गयी है। काम की अधिकता को ध्यान में रखते हुए किसी उच्च न्यायालय में दो वर्ष के लिए अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति भी की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति की स्वीकृति से उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश उच्च न्यायालय के किसी सेवा निवृत्ति न्यायाधीश से भी न्यायाधीश के रूप में कार्य करने के लिए अनुरोध कर सकता है।

योग्यताएँ (Qualifications) - भारतीय संविधान के अनुच्छेद 217 के अनुसार उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के

लिए व्यक्ति के पास निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए-

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह भारतीय क्षेत्र में कम-से-कम 10 वर्ष तक किसी न्यायिक पद पर कार्य कर चुका हो।

अथवा

वह किसी एक या एक से अधिक उच्च न्यायालयों में लगातार 10 वर्षों तक वकालत कर चुका हो।

न्यायाधीशों की नियुक्ति (Appointment of the Judges) - उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, राज्य के राज्यपाल सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से भी सलाह लेता है। उल्लेखनीय है कि 1993 में दिए एक फैसले में सर्वोच्च न्यायालय की नौ-सदस्य खण्डपीठ ने स्पष्ट किया था कि राष्ट्रपति के लिए उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में न्यायपालिका (अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश) की सलाह बाध्यकारी होगी। आगे चलकर 1998 में सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि इस विषय में राष्ट्रपति को सलाह देने से पूर्व मुख्य न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों से लिखित स्वीकृति/राय लेनी होगी।

कार्यकाल (Term of Office) - उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु पूरी होने तक अपने पद पर काम करते हैं, किन्तु वे इससे पूर्व भी अपने पद से त्याग-पत्र दे सकते हैं। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को 62 वर्ष की आयु पूरा करने से पहले भी पद से हटा सकता है, यदि संसद के दोनों सदन अलग-अलग कुल सदस्य संख्या के बहुमत से और सदन में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को प्रमाणित कदाचार (Proved Misbehaviour) या अक्षमता (Incapacity) के अपराध का दोषी ठहराते हुए इस आशय का एक प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति को भेज दें।

वेतन एवं भत्ते (Salary and Allowances) - उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन एवं भत्ते संसद द्वारा तय किए जाते हैं। वर्तमान में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों को क्रमशः ₹ 250,000 एवं ₹225,000 मासिक वेतन मिलता है। वेतन के अतिरिक्त इन्हें कई प्रकार के भत्ते भी मिलते हैं। न्यायाधीशों के कार्यकाल में इनके वेतन एवं भत्तों में किसी प्रकार की कटौती नहीं की जा सकती है, किन्तु अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत लागू वित्तीय संकट काल के समय इनके वेतन एवं भत्तों में कटौती की जा सकती है।

शपथ (Oath) - संविधान के अनुच्छेद 219 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को अपना पद ग्रहण करते समय राज्यपाल के समक्ष यह शपथ लेनी होती है कि वह संविधान में आस्था रखेगा; अपने कर्तव्यों का ईमानदारी से पालन करेगा और संविधान की रक्षा करेगा।

न्यायाधीशों का स्थानान्तरण (Transfer of the Judges) - राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण कर सकता है। अक्टूबर, 1998 में सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति को परामर्श देते हुए स्पष्ट किया था कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के स्थानान्तरण के विषय में दोनों उच्च न्यायालयों (जिससे स्थानान्तरण किया जा रहा है और जिसको स्थानान्तरण किया जा रहा है) के मुख्य न्यायाधीशों की राय लेनी चाहिए।

वकालत करने पर प्रतिबन्ध (Prohibition on Legal Practice) - सेवा निवृत्त होने के पश्चात् उच्च न्यायालय का न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय या किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय में वकालत कर सकता है, किन्तु वह उस उच्च न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता, जहाँ से वह सेवा-निवृत्त हुआ है।

उच्च न्यायालयों का क्षेत्रधिकार एवं शक्तियाँ (Jurisdiction and Powers of High Courts)

जब तक संविधान के अनुच्छेद 231 के तहत संसद दो या दो से अधिक राज्यों के लिए साझा उच्च न्यायालय स्थापित न करे अथवा किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को किसी संघीय क्षेत्र (Union Territory) तक न बढ़ाए, तक तक प्रत्येक राज्य का समस्त क्षेत्र अपने उच्च न्यायालय के भौगोलिक क्षेत्राधिकार में आता है। संविधान के अनुच्छेद 225 के संदर्भ में उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)- संविधान के अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत वे मामले आते हैं, जो सीधे इस न्यायालय में सुनवाई के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं। उच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, क्योंकि उच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों के उल्लंघन सम्बन्धी मामलों के साथ-साथ साधारण कानूनी अधिकार के उल्लंघन सम्बन्धी मामलों की भी सीधे सुनवाई कर सकता है। कोलकाता, मुंबई एवं चेन्नई उच्च न्यायालयों में कुछ दीवानी एवं फौजदारी मुकद्दमे सीधे प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इनके लिए यह आवश्यक नहीं कि ये पहले अधीनस्थ न्यायालयों में दायर किए जाएँ, जैसा कि अन्य राज्यों में व्यवस्था है। नौकाधिकरण (Admiralty), इच्छा-पत्र अर्थात्, वसीयत (Probate), विवाह पद्धति, कम्पनी कानून एवं विवाह-विच्छेद आदि से सम्बन्धित मुकद्दमे भी सीधे उच्च न्यायालयों में दायर किए जा सकते हैं। उच्च न्यायालय भी नागरिकों के मौलिक अधिकारों का रक्षक है। यदि किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों का हनन होता है, तो वह अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत सीधे उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), निषेध (Prohibition), उत्प्रेषण (Certiorari) या अधिकार-पृच्छा (Quo-warranto) के लेख (Writs) जारी करके हननकर्ता को ऐसा करने से रोक देता है।

2. अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)- सभी उच्च न्यायालयों को अपने अधीनस्थ न्यायालयों के फैसलों के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार है। इनके इस अधिकार को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

(i) दीवानी (Civil)-दीवानी मामलों में उच्च न्यायालयों में पहली अपील (FRA) या दूसरी अपील (SRA) दायर की जा सकती है। पहली अपील का अभिप्रायः यह है कि जिला न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध सीधे उच्च न्यायालय में अपील दायर की जा सकती है। ऐसा तभी होता है, जब उस मुकद्दमे में कोई कानून एवं तथ्य-सम्बन्धी प्रश्न शामिल हो। दूसरी अपील वह अपील होती है, जब पहली अपील जिला स्तर का न्यायालय सुन चुका हो और जिला स्तरीय न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील दायर की जाए, किन्तु इसमें कोई कानून एवं प्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्न निहित होना चाहिए।

यदि पहली या दूसरी अपील उच्च न्यायालय का एक न्यायाधीश सुन चुका है। तो अपीलीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उसके निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय की दो सदस्य खण्डपीठ में भी अपील दायर की जा सकती है।

(ii) फौजदारी (Criminal)- निम्नलिखित फौजदारी मामलों में अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील दायर की जा सकती है-

(क) यदि सेशन जज ने किसी अपराधी को मृत्यु दण्ड दिया हो, तो उसकी पुष्टि उच्च न्यायालय से होनी चाहिए। अपराधी स्वयं भी उच्च न्यायालय में अपील दायर कर सकता है।

(ख) यदि सेशन जज ने किसी अपराधी को सात वर्ष या इसे अधिक की सजा सुनायी हो।

3. अभिलेख न्यायालय (Court of Record) - प्रत्येक उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय के रूप में भी कार्य करता है। इसकी सभी कार्यवाहियों एवं निर्णय प्रमाण के रूप में प्रकाशित किए जाते हैं, जिन्हें राज्य के सभी न्यायालयों द्वारा स्वीकार किया जाता है। इसके अलावा, एक राज्य के उच्च न्यायालय के निर्णय को दूसरे राज्य के उच्च न्यायालय में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु इन्हें दूसरे उच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता है। अपनी अवमानना (अपमान) के लिए उच्च न्यायालय किसी भी व्यक्ति को दण्डित कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 215 में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है, "प्रत्येक उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय के रूप में कार्य करेगा और इस न्यायालय को अवमानना के लिए दण्डित करने की शक्ति सहित, शक्तियाँ प्राप्त होंगी।"

4. प्रशासनिक शक्तियाँ (Administrative Powers) – प्रत्येक उच्च न्यायालय को कुछ प्रशासन सम्बन्धी शक्तियों भी प्राप्त है; जैसे-

- (i) वह अपने अधीनस्थ किसी भी न्यायालय से दस्तावेज मंगवाकर उनको जाँच-पड़ताल कर सकता है।
- (ii) वह यह भी देखता है कि कोई अधीनस्थ न्यायालय अपनी सीमा का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है और अपने कर्तव्यों का कानून के अनुसार ही पालन कर रहा है।
- (iii) वह किसी मुकदमे को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में भेज सकता है।
- (iv) यह अधीनस्थ न्यायालयों के अधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, अवनति, एवं छुट्टी के बारे में नियम बनाता है।
- (v) यदि किसी अधीनस्थ न्यायालय में ऐसा मुकदमा चल रहा हो, जिसमें संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कोई प्रश्न निहित हो, तो वह उस मुकदमे को अपने पास मंगवाकर उसमें निर्णय दे सकता है।
- (vi) वह अपने अधीनस्थ न्यायालयों को कार्य प्रणाली, रिकार्ड, रजिस्टर बना सकता है और इनका हिसाब-किताब देख सकता है।

5. न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति (Power of Judicial Review) भारत में संविधान सर्वोच्च है। इसकी व्याख्या एवं रक्षा करने का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों दोनों को सौंपा गया है। इस लिए उच्च न्यायालय राज्य विधानपालिका द्वारा निर्मित कानूनों एवं कार्यपालिका द्वारा जारी आदेशों को संवैधानिकता की जाँच करता है और संविधान के अनुकूल न होने पर इन्हें अवैध घोषित कर सकता है। उच्च न्यायालय का यह कार्य न्यायिक पुनर्निरीक्षण कहलाता है। 43वें संशोधन अधिनियम (1978) के अन्तर्गत फिर से केन्द्रीय कानून भी इसकी परिधि में आ गए हैं।

उच्च न्यायालय द्वारा जारी किए जाने लेख (Writs to Be Issued by High Courts) – भारतीय संविधान के अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों के प्रवर्तन (Enforcement) और अन्य उद्देश्य के लिए लेख (Writs) जारी कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय भी अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत नागरिकों के मूल अधिकारों के प्रवर्तन के उद्देश्य से लेख जारी कर सकता है। किन्तु लेख जारी करने के विषय में उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार से अधिक विस्तृत है, क्योंकि यह मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ही नहीं, बल्कि अन्य कानूनी अधिकारों के प्रवर्तन के लिए भी ऐसा कर सकता है, जब कि सर्वोच्च न्यायालय केवल मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ही ऐसा कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय निम्नलिखित पाँच प्रकार के लेख जारी कर सकता है-

(i) **बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of Habeas Corpus)**- इस लेख के अनुसार उच्च न्यायालय सरकार को आज्ञा दे सकता है कि गैर-कानूनी ढंग से बन्दी बनाए गए व्यक्ति को नियत स्थान एवं नियत समय पर प्रस्तुत किया जाए। उच्च न्यायालय गैर-कानूनी ढंग से गिरफ्तारी की दशा में व्यक्ति को रिहा करने का आदेश दे सकता है।

(ii) **परमादेश लेख (Writ of Mandamus)**- इस लेख के द्वारा उच्च न्यायालय किसी पदाधिकारी या संस्था को उसके सार्वजनिक दायित्वों को पूरा करने का आदेश देता है। उदाहरण के लिए, अगर कोई कम्पनी किसी घायल मजदूर जिसे श्रमिक कानून के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार है, को क्षतिपूर्ति नहीं देती है, तो वह मजदूर उच्च न्यायालय द्वारा परमादेश लेख जारी करवा सकता है अर्थात् उच्च न्यायालय उस कम्पनी के लिए यह आदेश जारी कर सकता है कि वह उसे क्षतिपूर्ति दे।

(iii) **निषेध लेख (Writ of Prohibition)**- इस लेख के द्वारा उच्च न्यायालय किसी निम्न न्यायालय को, यह आदेश देता है कि वह अमुक कार्य, जो उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर है न करे अथवा एकदम बन्द कर दे।

(iv) **उत्प्रेक्षण लेख (Writ of Certiorari)**- इस लेख के द्वारा उच्च न्यायालय, किसी निम्न न्यायालय के समक्ष विचारार्थ

किसी मुकदमे को अपने पास मंगा लेता है। यह आदेश तब जारी किया जाता है, जब उच्च न्यायालय यह अनुभव करे कि विवाद निम्न न्यायालय के क्षेत्राधिकार के बाहर है या यह न्यायालय ठीक से न्याय नहीं करने जा रहा है।

(v) अधिकार-पृच्छा लेख (Writ of Quo-warranto)- यह लेख उस समय जारी किया जाता है, जब कोई प्राधिकारी किसी ऐसे कार्य को करने का दावा करता हो, जिसको करने का उसको कानूनी अधिकार न हो। उच्च न्यायालय इस बात की जाँच करता है कि उस प्राधिकारी को ऐसा करने का अधिकार है या नहीं।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (Independence of Judiciary)

स्वतन्त्र न्यायपालिका से हमारा अभिप्राय: ऐसी न्यायपालिका से है, जिस पर कोई बाहरी नियन्त्रण न हो अर्थात् जिस पर विधानपालिका, कार्यपालिका या किसी अन्य संस्था का नियन्त्रण न हो। अन्य शब्दों में, ऐसी न्यायपालिका, जो सभी प्रकार के बाहरी प्रभावों से मुक्त रहते हुए अपना कार्य करती है, स्वतन्त्र न्यायपालिका कहलाती है। भारतीय संविधान निर्माता देश में स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय संविधान में ऐसी अनेक व्यवस्थाएँ की हैं, जो न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करती हैं, जैसे-

1. न्यायाधीशों की नियुक्ति का तरीका (Mode of Appointment of Judges)- भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को नियुक्त करने की शक्ति किसी एक व्यक्ति या संस्था को नहीं सौंपी गयी है। संविधान के अनुच्छेद 124 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, किन्तु नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति के लिए सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श लेना आवश्यक है। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में मुख्य न्यायाधीश के लिए सर्वोच्च न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों से विचार-विमर्श करना जरूरी है।

2. न्यायाधीशों की योग्यताएँ (Qualifications of Judges)- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने के लिए संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं। स्पष्ट है कि निर्धारित योग्यताएँ रखने वाला व्यक्ति ही सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जा सकता है। न्यायाधीशों की योग्यताओं में शैक्षणिक योग्यताओं के अतिरिक्त व्यावसायिक योग्यताएँ एवं अनुभव को भी शामिल किया गया है।

3. न्यायाधीशों के वेतन (Salaries of Judges) - न्यायपालिका की स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए यह भी जरूरी है कि न्यायाधीशों को उच्च वेतन दिया जाए, ताकि वे अपने पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप जीवन-स्तर बनाए रख सकें। वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को ₹ 2,80,000, और अन्य न्यायाधीशों को ₹ 2,50,000 और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों को ₹ 2,50,000 एवं अन्य न्यायाधीशों को ₹ 2,25,000 मासिक वेतन मिलता है। इसके अलावा, इन्हें कई प्रकार के भत्ते, सुसज्जित आवास एवं पेंशन भी मिलती है। साथ ही, संविधान में यह भी व्यवस्था की गयी है कि न्यायाधीशों के कार्यकाल के दौरान इनके वेतन, भत्ते एवं अन्य सुविधाओं में कोई कटौती नहीं की जा सकती है।

4. न्यायाधीशों की सेवा-सुरक्षा (Security of Service of Judges)- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए न्यायाधीशों की सेवा की सुरक्षा होनी चाहिए। इसके लिए न तो न्यायाधीशों की नियुक्ति अल्पकाल के लिए की जानी चाहिए और न ही इन्हें सरकार द्वारा पद से हटाए जाने का भय होना चाहिए। भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु पूरी होने तक और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु पूरी होने तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। ये चाहे, तो कभी भी अपने पद से त्याग-पत्र दे सकते हैं। जहाँ तक न्यायाधीशों को कार्यकाल पूरा होने से पहले पद से हटाने का प्रश्न है, इसके लिए संविधान द्वारा कठोर विधि तय की गयी है।

5. वकालत पर प्रतिबन्ध (Prohibition on Legal Practice)- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को ध्यान में रखते हुए संविधान द्वारा न्यायाधीशों पर सेवा निवृत्ति के बाद वकालत करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सेवा निवृत्त होने के बाद भारतीय संघ के अन्दर किसी भी न्यायालय में वकालत

नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार यह व्यवस्था की गयी है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सेवा निवृत्ति के बाद उस उच्च न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते हैं, जिससे वे सेवा निवृत्त हुए हैं, किन्तु वे सर्वोच्च न्यायालय या अन्य किसी उच्च न्यायालय में वकालत कर सकते हैं।

6. न्यायाधीशों के आचरण पर विधानमण्डल में चर्चा नहीं (No Discussion on the Conduct of Judges in Legislature)- न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि न्यायाधीशों के आचरण पर किसी भी विधानमण्डल में चर्चा नहीं की जा सकती है। न्यायाधीशों के आचरण के विषय में 'महाभियोग प्रस्ताव' को छोड़कर संसद में भी कभी चर्चा नहीं की जा सकती है।

7. पृथक स्थापना (Separate Establishment)- संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए इन्हें अपने कार्मिकों की नियुक्ति करने और उन पर नियन्त्रण स्थापित करने की शक्ति प्रदान की गयी है। अन्य शब्दों में, अपने कार्मिक(कर्मचारी) वर्ग की नियुक्ति, सेवा-शर्तों आदि के विषय में सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों को क्रमशः भारत सरकार एवं राज्य सरकारों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है।

8. न्यायालयों के निर्णय आलोचनाओं से मुक्त (Judgement of Courts Free from Criticism)- भारत में किसी व्यक्ति, संस्था या प्रेस द्वारा किसी न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय की आलोचना नहीं की जा सकती है, क्योंकि ऐसा करना 'न्यायालय की अवमानना' माना जाता है, जो कि एक दण्डनीय अपराध है।

9. न्यायाधीशों का स्थानान्तरण (Transfer of Judges)- संविधान द्वारा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण को शक्ति केन्द्र सरकार को न देकर, सर्वोच्च न्यायालय को दी गयी है। सर्वोच्च न्यायालय राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का स्थानान्तरण तय प्रक्रिया के अनुसार करता है, इसमें सरकार का हस्तक्षेप नहीं होता है।

स्पष्ट है कि भारतीय संविधान द्वारा स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना की गयी है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न (important questions)

1. भारत के सर्वोच्च न्यायालय की रचना, शक्तियों एवं स्थिति का वर्णन कीजिए। (Discuss the composition, powers and position of Indian Supreme Court.)

2. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के संगठन एवं अधिकार क्षेत्र का वर्णन कीजिए। (Discuss the composition and jurisdiction of the Supreme Court of India)

3. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया एवं क्षेत्राधिकार का वर्णन करें।

(Describe the process of appointment of Judges and jurisdiction of Supreme Court of India.)

4. उच्च न्यायालय के संगठन एवं क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।

(Describe the composition and jurisdiction of a High Court.)

5. राज्य के उच्च न्यायालय की संरचना, शक्तियों एवं क्षेत्राधिकार का वर्णन करें।

(Discuss the composition, powers and jurisdiction of the High Court of a state.)

6. भारतीय संविधान में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए क्या व्यवस्थाएँ की गयी हैं? (What provisions have been made in the Constitution of India to ensure the independence of Judiciary?)

न्यायिक पुनर्निरीक्षण एवं न्यायिक सक्रियता [Judicial Review and Judicial Activism]

न्यायिक पुनर्निरीक्षण (Judicial Review)

संविधान देश का सर्वोच्च कानून होता है। इसका अभिप्राय: यह हुआ कि किसी व्यक्ति, संस्था या सरकार द्वारा संविधान का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। विधानपालिका एवं कार्यपालिका द्वारा संविधान का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए अर्थात् विधानपालिका को ऐसा कोई कानून नहीं बनाना चाहिए और कार्यपालिका को ऐसा कोई आदेश नहीं देना चाहिए, जो संविधान का उल्लंघन करता हो। इस बात की जाँच करने का कार्य कि विधानपालिका द्वारा निर्मित कोई कानून या कार्यपालिका द्वारा जारी कोई आदेश संविधान का उल्लंघन करता है या नहीं, न्यायपालिका को सौंपा गया है।

सरल शब्दों में, **न्यायिक पुनर्निरीक्षण / पुनरावलोकन का अर्थ** होता है- न्यायिक पुनर्निरीक्षण न्यायपालिका की वह शक्ति है जिसके द्वारा न्यायपालिका कार्यपालिका के आदेश तथा विधान पालिका के बनाए कानून की संवैधानिकता की जांच कर सकती है और संवैधानिक न पाए जाने पर उन्हें निरस्त कर सकती है।

न्यायपालिका द्वारा विधानपालिका द्वारा निर्मित कानूनों और कार्यपालिका द्वारा दिए गए आदेशों की संवैधानिकता की जाँच करना अर्थात् न्यायपालिका द्वारा इस बात का परीक्षण करना कि विधानपालिका द्वारा निर्मित कोई कानून या कार्यपालिका द्वारा जारी कोई आदेश संविधान का उल्लंघन करता है या नहीं। यदि न्यायालय की दृष्टि में कोई कानून या कार्यकारी आदेश संविधान का उल्लंघन करता है, तो न्यायपालिका उसे असंवैधानिक घोषित कर देती है, जिसके परिणामस्वरूप वह रद्द हो जाता है।

पिनाँक एवं स्मिथ के शब्दों में, "न्यायिक पुनर्निरीक्षण न्यायालयों की वह शक्ति है, जो संविधान की व्याख्या करती है और वैधानिक, कार्यपालिका एवं प्रशासकीय कार्यों को सर्वोच्च कानून (संविधान) के विरुद्ध होने पर असंवैधानिक घोषित करती है।"

भारत में न्यायिक पुनर्निरीक्षण (Judicial Review in India)

ब्रिटेन की तरह, भारत में संसदीय शासन प्रणाली लागू की गयी है, लेकिन ब्रिटिश संसद की तरह, भारतीय संसद शक्तिशाली नहीं हैं। ब्रिटेन में ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो संसद द्वारा निर्मित कानूनों को असंवैधानिक घोषित कर सकें।

इसके विपरीत, भारत में संसद द्वारा निर्मित कानूनों को इस आधार पर न्यायपालिका द्वारा रद्द किया जा सकता है कि ये संविधान का उल्लंघन करते हैं। भारत में यह कार्य सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों द्वारा किया जाता है। वास्तव में भारत में न्यायपालिका को पुनर्निरीक्षण की शक्ति प्रदान करके संविधान निर्माताओं ने संसदीय सर्वोच्चता एवं लिखित संविधान के मध्य ताल-मेल स्थापित किया गया है।

न्यायिक पुनर्निरीक्षण का आधार (Basis of Judicial Review) - यद्यपि भारतीय संविधान के किसी भी अनुच्छेद में सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों की न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति का स्पष्ट वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति अवश्य ही प्रदान करते हैं -

1. अनुच्छेद 13(2)- इस अनुच्छेद में कहा गया है, "राज्य किसी ऐसे कानून का निर्माण नहीं करेगा, जो संविधान के तृतीय भाग में दिए गए मौलिक अधिकारों को समाप्त करता है या कम करता है और इस उपबन्ध का उल्लंघन करने वाला कोई कानून उसी सीमा तक रद्द समझा जाएगा, जिस सीमा तक वह इनका उल्लंघन करता है।"

2. अनुच्छेद 32- इस अनुच्छेद में कहा गया है, "इस भाग (मौलिक अधिकार सम्बन्धी तृतीय भाग) में दिए गए अधिकारों को लागू कराने के लिए उचित कार्यवाही हेतु सर्वोच्च न्यायालय में जाने के अधिकार की गारण्टी दी जाती है। इसके तहत सुप्रीम कोर्ट अपनी पुनर्निरीक्षण की शक्ति का प्रयोग कर सकता है।"

3. **अनुच्छेद 132-** यह अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने का अधिकार प्रदान करता है। इसमें कहा गया है कि उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाणित किए जाने पर कि विवाद में संविधान की व्याख्या का आवश्यक प्रश्न निहित है, उसकी अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है।

4. **अनुच्छेद 141-** इस अनुच्छेद में कहा गया है, "सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून भारत के क्षेत्र में स्थित सभी न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होंगे।"

5. **अनुच्छेद 226-** इस अनुच्छेद के तहत मौलिक अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में पीड़ित व्यक्ति उच्च न्यायालय का सहारा ले सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कोई कानून या कार्यकारी आदेश संविधान के तृतीय भाग में दिए गए व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकता है।

6. **अनुच्छेद 246** - इस अनुच्छेद में कानून बनाने की शक्तियों को तीन सूचियों में विभक्त करते हुए केन्द्र एवं राज्यों की शक्तियाँ निर्धारित की गयी हैं। इसका निहितार्थ यह हुआ कि यदि केन्द्र या राज्य अपनी सीमाओं के बाहर जाकर कोई कानून बनाएँगे, तो वह कानून सर्वोच्च न्यायालय द्वारा रद्द कर दिया जाएगा।

7. **43वाँ संशोधन अधिनियम-** 42वें संशोधन अधिनियम (1976) द्वारा अनुच्छेद 368 में धारा 4 जोड़कर यह व्यवस्था की गयी है कि न्यायालय संशोधन अधिनियम की संवैधानिकता की जाँच नहीं कर सकते हैं। किन्तु 43वें संशोधन अधिनियम (1978) द्वारा फिर से यह व्यवस्था कर दी गयी कि न्यायालय संशोधन अधिनियम की न्यायिक समीक्षा कर सकते हैं।

न्यायिक पुनर्निरीक्षण की सीमाएँ (Limitations on Judicial Review) - न्यायापालिका अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय कुछ निश्चित सीमाओं में रहकर ही न्यायिक पुनर्निरीक्षण की अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं; जैसे-

1. न्यायालय इस शक्ति का प्रयोग तब ही कर सकते हैं, जब किसी कानून, कार्यकारी आदेश या संशोधन अधिनियम को किसी व्यक्ति या संस्था द्वारा चुनौती दी जाती है।

2. **आई. आर. कोइलो बनाम तमिलनाडु राज्य** मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय के नौ न्यायाधीशों की खण्डपीठ के 11 जनवरी, 2007 के निर्णय के अनुसार संविधान की नौवीं अनुसूची में 24 अप्रैल, 1973 अर्थात् केशवानन्द भारती मुकदमें में दिए गए सर्वोच्च न्यायालय के फैसले की तिथि से पहले शामिल कानूनों का न्यायिक पुनर्निरीक्षण नहीं किया जा सकता है।

3. न्यायपालिका किसी कानून की उन्हीं धाराओं को असंवैधानिक घोषित कर सकती है, जो संविधान का उल्लंघन करती हैं; समस्त कानून को नहीं।

4. न्यायपालिका द्वारा राजनीतिक प्रश्नों या नीतिगत मामलों (Policy Matters) का पुनर्निरीक्षण नहीं किया जा सकता है।

5. सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अन्तर्राज्य नदी के जल के बँटवारे अथवा नियन्त्रण सम्बन्धी कानून का न्यायिक पुनर्निरीक्षण नहीं किया जा सकता है।

न्यायिक पुनर्निरीक्षण की प्रकृति (Nature of Judicial Review) - निःसन्देह, भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च

न्यायालय को न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति प्रदान की गयी है, किन्तु भारत में न्यायिक पुनर्निरीक्षण का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है, जितना कि अमेरिका में, क्योंकि भारतीय संविधान में दिए गए कई उपबन्ध इसके क्षेत्र को सीमित कर देते हैं: जैसे-

1. अमेरिकी संविधान अति संक्षिप्त है, जिसके कारण वहाँ संघीय सरकार एवं राज्य सरकारों के मध्य विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसे में वहाँ सर्वोच्च न्यायालय का न्यायिक पुनर्निरीक्षण का दायरा बढ़ गया है। भारतीय संविधान बहुत विशाल है, जिसमें केन्द्र एवं राज्यों के मध्य कानून निर्माण की शक्तियों का स्पष्ट रूप से विभाजन कर दिया गया है। यहाँ तक कि संविधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अवशेष शक्तियाँ (Residuary Powers) केन्द्र के पास होंगी।

2. अमेरिका के संविधान के विपरीत, भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की संख्या तय कर दी गयी है। इन पर संविधान द्वारा कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं; जैसे-कानून एवं व्यवस्था, जन स्वास्थ्य, जन कल्याण, कदाचार आदि। इन प्रतिबन्धों के आधार पर सरकार नागरिकों के मौलिक अधिकार स्थगित कर सकती है। ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय केवल इस बात की ही जाँच करता है कि सरकार ने अपनी शक्ति का प्रयोग ठीक प्रकार से किया है या नहीं।

3. अमेरिका के संविधान में 'कानून की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) शब्दावली का प्रयोग किया गया है। संविधान में प्रयुक्त इस शब्दावली के कारण वहाँ सर्वोच्च न्यायालय किसी कानून की संवैधानिकता का परीक्षण दो आधारों पर कर सकता है-प्रथम, क्या संघीय या राज्य विधानमण्डल, जिसने भी वह कानून बनाया है, को संविधान द्वारा उस कानून के बनाने की शक्ति प्रदान की गयी है या नहीं और द्वितीय, क्या वह कानून प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल है या नहीं अर्थात् क्या वह कानून वचित (Just) एवं युक्तियुक्त (Reasonable) है या नहीं।

इसके विपरीत, भारतीय संविधान में 'कानून द्वारा स्थापित विधि' (Procedure Established by Law) शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ सर्वोच्च न्यायालय किसी कानून की संवैधानिकता की जाँच केवल इस आधार पर कर सकता है कि संसद या राज्य विधानमण्डल, जिसने भी वह कानून बनाया है, को उस कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है या फिर उसने अपनी शक्ति से परे जाकर उस कानून का निर्माण किया है। अन्य शब्दों में, भारत में सर्वोच्च न्यायालय किसी कानून की संवैधानिकता की जाँच इस आधार पर नहीं कर सकता है कि वह कानून प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल है या नहीं अर्थात् वह उचित एवं युक्तियुक्त है या नहीं।

स्पष्ट है कि अमेरिका की तरह, भारत में न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया है, बल्कि यहाँ न्यायपालिका की सर्वोच्चता और संसद की सम्प्रभुता के मध्य सन्तुलन स्थापित किया गया है।

न्यायिक पुनर्निरीक्षण की आलोचना (Criticism of Judicial Review)

न्यायिक पुनर्निरीक्षण की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गयी है; जैसे-

1. **लोकतन्त्र-विरोधी (Anti-democratic)**— आलोचकों का कहना है कि संसद जन प्रतिनिधि संस्था है और इस जाते यह जनता के प्रति उत्तरदायी है। इसके विपरीत, न्यायाधीश न तो जनता के प्रतिनिधि होते हैं और न ही जनता के प्रति उत्तरदायी। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संसद या राज्य विधानमंडलों द्वारा निर्मित कानून का पुनर्निरीक्षण करना लोकतन्त्र विरोधी कार्य है।

2. **दोषपूर्ण विधि (Defective Procedure)**- भारत में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बहुमत के आधार पर फैसले दिए जाते हैं। ऐसे में, अकेले एक न्यायाधीश का मत किसी कानून को संवैधानिक या असंवैधानिक घोषित कर देने का कार्य कर सकता है। उदाहरण के लिए **गोलकनाथ बनाम पंजाब सरकार मुकदमे (1967)** में छः न्यायाधीशों का मत था कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती है, जब कि पाँच न्यायाधीशों का यह मत था कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है।

3. **न्यायपालिका की तानाशाही की सम्भावना (Possibility of Judicial Despotism)**- भारत में न्यायपालिका संसद या राज्य विधानमण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों एवं कार्यकारी आदेशों का ही नहीं, बल्कि संशोधन अधिनियमों का भी पुनर्निरीक्षण करती है। ऐसे में न केवल शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त के भंग होने की सम्भावना है, बल्कि न्यायपालिका की तानाशाही स्थापित होने की सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

4. **संसद एवं सर्वोच्च न्यायालय में गतिरोध की सम्भावना (Possibility of Deadlock between Parliament and Supreme Court)**- न्यायपालिका की पुनर्निरीक्षण की इस शक्ति के कारण संसद एवं सर्वोच्च न्यायालय में गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है और कई बार ऐसा हुआ भी है। गोलकनाथ मुकदमे (1967) में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती है। इस निर्णय को बेअसर करने के लिए संसद को संविधान

में 24 वॉ संशोधन करना पड़ा था। जब इस संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी, तो सर्वोच्च न्यायालय ने इसका पुनर्निरीक्षण करते हुए निर्णय दिया कि संसद संविधान में तो संशोधन कर सकती है। किन्तु 'संविधान के मूलभूत ढाँचे' में संशोधन नहीं कर सकती है।

5. प्रगतिशील कानूनों के मार्ग में अड़चन (Hindrances in the Way of Progressive Laws)- भारत में जिस प्रकार से सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक पुनर्निरीक्षण की अपनी शक्ति का प्रयोग किया है, उससे प्रगतिशील कानूनों के मार्ग में अड़चनें पैदा हुई हैं। उदाहरण के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने ज़मींदारी उन्मूलन कानूनों और भूमि सुधार कानूनों के मार्ग में अड़चने पैदा की हैं। सर्वोच्च न्यायालय का यही रवैया बैंकों के राष्ट्रीयकरण एवं प्रिवी पर्स वाले मामलों में भी रहा है।

6. प्रशासनिक समस्याएँ (Administrative Complexities)- कई बार न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति की वजह से कुछ प्रशासनिक समस्याएँ सामने आ जाती हैं। उदाहरण के लिए 11 जनवरी, 2007 को अपने समक्ष आए एक मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह फैसला दिया था कि 24 अप्रैल, 1973 के बाद नौवीं अनुसूची में डाले गए उन कानूनों का पुनर्निरीक्षण किया जा सकता है, जो मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करते हैं।

न्यायिक पुनर्निरीक्षण का महत्व

(Significance of Judicial Review)

इसके महत्व या औचित्य को निम्नलिखित आधारों पर सिद्ध किया जा सकता है-

1. सत्तारूढ़ दल की तानाशाही से संरक्षण (Protection against the Tyranny of Ruling Party) - भारत में सत्तारूढ़ दल अपने हितों की पूर्ति के लिए बेतुके कानूनों का निर्माण करने या बेतुके निर्णय लेने से पीछे नहीं रहते हैं। पीड़ित व्यक्ति ऐसे कानूनों को सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों में चुनौती दे सकता है। ऐसे में न्यायपालिका ऐसे ही कानून को रद्द कर सकती है।

2. नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षण (Protection of Fundamental Rights of Citizens) - न्यायिक पुनर्निरीक्षण का प्रमुख महत्व यह है कि इसके कारण नागरिकों के मौलिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं। जब कभी संसद अथवा राज्य विधानमण्डल कोई ऐसा कानून बना देते हैं या फिर केन्द्र सरकार अथवा राज्य सरकार कोई ऐसा आदेश जारी कर देती है, जिससे नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है, तो पीड़ित व्यक्ति उसको न्यायालय में चुनौती देकर, न्यायालय से राहत (Relief) प्राप्त कर सकते हैं। भारत में अनेक बार ऐसा हुआ है।

3. संविधान का संरक्षण (Protection of the Constitution)– भारत में न्यायिक पुनर्निरीक्षण के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की रक्षा करने का कार्य किया है। जब किसी सरकार द्वारा कोई ऐसा कदम उठाया गया, जिससे संविधान का उल्लंघन हुआ, तो चुनौती दिए जाने पर सर्वोच्च न्यायालय ने उसे असंवैधानिक घोषित कर डाला। केशवानन्द भारती मुकदमें (1973) में यह निर्णय देना कि संसद 'संविधान के मूलभूत ढाँचे' में संशोधन नहीं कर सकती है, संविधान की रक्षा की दिशा में उठाया गया उल्लेखनीय कदम है।

4. संविधान की व्याख्या (Interpretation of the Constitution)- भारत का संविधान विश्व का सर्वाधिक विशाल संविधान है, फिर भी, अनेक बातों के विषय में यह या तो मौन है या फिर अस्पष्ट। ऐसे में इसकी व्याख्या करना न्यायपालिका का दायित्व हो जाता है।

5. संघात्मक व्यवस्था के लिए आवश्यक (Necessary for Federal System)- संघात्मक व्यवस्था की सफलता के लिए संविधान में न्यायिक पुनर्निरीक्षण की व्यवस्था करना आवश्यक है, क्योंकि यहाँ क्षेत्राधिकार को लेकर संघ एवं राज्यों के मध्य विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। जी. एन. जोशी के शब्दों में, "यह देखना न्यायालयों का सकारात्मक कर्तव्य है कि संघ एवं राज्य

दोनों अपने-अपने निश्चित क्षेत्राधिकार में कार्य करें।

6. संविधान के विकास में सहायक (Helpful in the Evolution of the Constitution)- निरन्तर बदलती घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार संविधान का विकास होते रहना जरूरी है। संविधान को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ढालने के कार्य में न्यायिक पुनर्निरीक्षण की भी भूमिका होती है। यही कारण है कि अमेरिकी संविधान में बहुत कम संशोधनों के बाद भी इस संविधान को उखाड़ फेंका नहीं गया। भारत में न्यायपालिका ने संविधान को विकसित करने का कार्य किया है। मेनका गाँधी मुकदमे (1978) में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ए. के. गोपालन मुकदमे (1950) में दिए फैसले को उलट देना यही सिद्ध करता है।

न्यायिक सक्रियता

(Judicial Activism)

विधानपालिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका सरकार के तीन प्रमुख अंग होते हैं और इन तीनों अंगों की शक्तियाँ एवं क्षेत्राधिकार राज्य के संविधान द्वारा निर्धारित कर दिए जाते हैं। भारत में संसदीय शासन प्रणाली लागू की गयी है और संविधान द्वारा सरकार के इन तीनों अंगों का क्षेत्राधिकार निर्धारित किया गया है। अपने निर्धारित क्षेत्राधिकार के अन्दर रहते हुए अपने कार्य पूरा करना सरकार के इन तीनों अंगों के लिए आवश्यक है, किन्तु पिछले कुछ वर्षों से भारत में न्यायपालिका जिस प्रकार से अपना कार्य कर रही है, उसको देखते हुए संवैधानिक विशेषज्ञों एवं राजनीतिज्ञों ने यह विचार व्यक्त किया कि भारत में न्यायपालिका सक्रिय हो रही है।

न्यायिक सक्रियता का अर्थ (Meaning of Judicial Activism)- न्यायपालिका का कार्य उसके समक्ष प्रस्तुत विवादों का निर्णय करना है। ऐसे निर्णय संविधान एवं कानूनों के द्वारा तय कानूनी प्रक्रिया के अनुसार दिए जाते हैं। न्यायपालिका के ऐसे निर्णयों को न्यायिक सक्रियता का नाम नहीं दिया जाता है। किन्तु जब न्यायपालिका अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जाकर कार्यपालिका अथवा विधानपालिका के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप करने लगती है, तो न्यायपालिका की इस कार्रवाई को न्यायिक सक्रियता (न्यायिक क्रियाशीलता) का नाम दिया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश जस्टिस पी. बी. सावंत के मतानुसार, जब न्यायपालिका ऐसी प्राथमिकताएँ, नीतियाँ एवं कार्यक्रम निश्चित करती है, जो विधानपालिका या अन्य सत्ताओं के लिए लागू करना आवश्यक नहीं है और इन्हें लागू करने के सम्बन्ध में निर्णय करना कार्यपालिका अथवा विधानपालिका को इच्छा पर निर्भर करता है, तो न्यायपालिका न्यायिक सक्रियता का प्रकटीकरण और सरकार के अन्य अंगों की शक्तियों का अतिक्रमण कर रही होती है।

स्पष्ट है कि न्यायिक सक्रियता का अर्थ न्यायपालिका द्वारा ऐसे कार्य करने से है, जो उसके क्षेत्राधिकार में नहीं, बल्कि विधानपालिका, कार्यपालिका या किसी अन्य संस्था के क्षेत्राधिकार में आते हैं। जब न्यायपालिका अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जाकर विधानपालिका, कार्यपालिका या किसी अन्य सरकारी संस्था को बाध्यकारी निर्देश जारी करती है, तो न्यायपालिका की ऐसी कार्रवाई न्यायिक सक्रियता को प्रकट करती है। इस प्रकार **न्यायिक सक्रियता से हमारा अभिप्राय न्यायपालिका द्वारा अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जाकर ऐसे काम करने से है, जो सरकार के अन्य अंगों के क्षेत्राधिकार में आते हैं।**

न्यायिक सक्रियता के उद्भव का कारण (Reasons for the Emergence of Judicial Activism) - सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश जस्टिस जे.एस. वर्मा का मत है, "न्यायिक सक्रियता की आवश्यकता केवल तब ही होती है, जब अन्य (अंग) अक्रियाशील होते हैं। यदि कोई अन्य (अंग) कार्य कर रहा है, तो हमें हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है।" जस्टिस वर्मा के इस कथन से न्यायिक सक्रियता की आवश्यकता या कारण स्पष्ट हो जाते हैं। विधानपालिका, कार्यपालिका, एवं न्यायपालिका, सरकार के तीन महत्वपूर्ण अंग हैं और प्रत्येक अंग के लिए सक्रिय होना आवश्यक है, क्योंकि जब सरकार का कोई अंग अपने दायित्वों को पूरा करने में सक्रिय नहीं होता, तो सरकार कुशल शासन नहीं दे पाती। जब विधानपालिका या कार्यपालिका अपने कार्यों के विषय में ढीलापन दिखाती हैं, तो कानून का शासन कायम रखने और

संविधान की रक्षा करने के लिए न्यायपालिका को अधिक सक्रिय होना पड़ता है। जब देश में राजनीतिज्ञों एवं नौकरशाहों द्वारा अनेक घोटाले किए गए और इनके विरुद्ध सरकार द्वारा कोई कार्रवाई नहीं की गयी तो न्यायपालिका को ऐसे निर्णय लेने पड़े, जो उसके क्षेत्राधिकार में नहीं आते थे। यदि सरकार के अन्य अंग अपने-अपने कार्य करते रहें, तो न्यायिक सक्रियता की आवश्यकता नहीं होती।

न्यायिक सक्रियता के साधन (Devices of Judicial Activism)

न्यायालय उन मुकदमों के सम्बन्ध में कार्रवाई करते हैं, जो मुकदमों उनके समक्ष व्यक्तियों, संस्थाओं या सरकार द्वारा लाए जाते हैं। जिन प्रक्रियाओं द्वारा मुकदमों न्यायालयों में पहुँचते हैं, उन प्रक्रियाओं को ही न्यायिक सक्रियता के साधन कहा जाता है। यदि इन साधनों का सहारा नहीं लिया जाएगा, तो न्यायालयों को मुकदमों का निबटारा करने के अवसर प्राप्त नहीं होंगे। इस दृष्टि से न्यायिक सक्रियता के कुछ प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं-

1. न्यायिक पुनर्निरीक्षण (Judicial Review) - भारतीय संविधान के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्निरीक्षण की शक्ति प्राप्त है। इस शक्ति के अधीन ये न्यायालय संसद अथवा राज्य विधानमण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों और कार्यपालिका द्वारा जारी किए आदेशों की संवैधानिकता को जाँच करते हैं। यदि इन न्यायालयों की दृष्टि में कोई कानून या कार्यकारी आदेश संविधान का उल्लंघन करता है, तो ये न्यायालय न्यायिक पुनर्निरीक्षण की अपनी शक्ति का प्रयोग करके उस कानून या कार्यकारी आदेश को असंवैधानिक घोषित कर देते हैं। न्यायिक पुनर्निरीक्षण के अपने इस अधिकार का प्रयोग करते हुए ये न्यायालय कई बार ऐसे सिद्धान्त तय कर देते हैं, जिनका पालन करना सरकार के अन्य अंगों के लिए बाध्यकारी होता है। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति दी गयी है। इस अनुच्छेद में यह व्यवस्था नहीं की गयी थी कि संसद की संविधान में संशोधन करने की शक्ति सीमित है। किन्तु केशवानन्द भारती मुकदमे (1973) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद संविधान में ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती है, जो 'संविधान के मूलभूत ढांचे' (Basic Structure of the Constitution) का उल्लंघन करता हो। संविधान निर्माताओं ने संसद की संविधान में संशोधन करने की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया था, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने यह प्रतिबन्ध लगा दिया।

2. मौलिक अधिकारों को लागू करवाने सम्बन्धी मुकदमे (Cases concerning Enforcement of Fundamental Rights)- यदि व्यक्ति के किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन होता है, तो वह अपने उस अधिकार को लागू करवाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय या सम्बन्धित उच्च न्यायालय में याचिका (Petition) दायर कर सकता है। जब इन न्यायालयों के समक्ष इस प्रकार के मुकदमे आते हैं, तो ये न्यायालय अपने निर्णयों द्वारा सरकार को ऐसे निर्देश जारी कर देते हैं, जो सीधे तौर पर इनके क्षेत्राधिकार में नहीं आते। सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों के रक्षक हैं। अनेक मुकदमों में इन न्यायालयों ने ऐसे निर्णय दिए हैं, जो न्यायिक सक्रियता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं; जैसे-4 फरवरी, 1993 को सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि 14 साल की आयु तक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक बच्चे का मौलिक अधिकार है और वह इस अधिकार को लागू करवा सकता है।

3. संविधान की व्याख्या-सम्बन्धी मुकदमे (Cases concerning Interpretation of the Constitution)- प्रायः संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित मुकदमे सर्वोच्च न्यायालय में आते रहते हैं। सर्वोच्च न्यायालय इन मुकदमों का निर्णय करते समय नवीन कानूनी धारणाएं, सिद्धान्त, नियम, विधियाँ आदि प्रस्तुत कर देता है। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद 124 के अनुसार राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करने से पहले सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश एवं अन्य न्यायाधीशों से परामर्श लेगा। इस अनुच्छेद में यह व्यवस्था बिल्कुल नहीं की गयी थी कि मुख्य न्यायाधीश एवं अन्य न्यायाधीशों द्वारा दिया गया परामर्श राष्ट्रपति के लिए मानना आवश्यक है, किन्तु 6 अक्टूबर, 1993 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक फैसले में यह कहा कि सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के विषय में कार्यपालिका की अपेक्षा मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को प्रमुखता प्राप्त होगी। सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय ने व्यावहारिक रूप से न्यायाधीशों की नियुक्ति की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सौंप दी।

4. न्यायसंगत मुकदमे (Equity Cases)- कई बार न्यायालयों के समक्ष ऐसे मुकदमे भी आ जाते हैं, जिनके विषय में निर्णय करने के लिए किसी प्रकार का कोई कानून मौजूद नहीं होता है। कानूनों का निर्माण संसद द्वारा किया जाता है, किन्तु व्यवहारिक रूप से प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति के लिए संसद द्वारा दृष्टान्त कानून का निर्माण करना सम्भव नहीं है। इसलिए जब न्यायालय के समक्ष ऐसे मुकदमे आते हैं, जिनका निर्णय करने के लिए किसी प्रकार का कानून मौजूद नहीं होता, तो न्यायाधीश ऐसे मुकदमों का निर्णय अपने विवेक एवं न्यायिक अनुभव के आधार पर करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के ऐसे निर्णय दृष्टांत (Precedent) बन जाते हैं अर्थात् ये निर्णय अधीनस्थ न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होते हैं। ऐसे निर्णयों के द्वारा भी न्यायाधीश न्यायिक सक्रियता प्रकट करते हैं।

5. जन हित-सम्बन्धी मुकदमे (Public Interest Litigation)- न्यायिक सक्रियता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन जन हित-सम्बन्धी मुकदमे हैं। कानून के अनुसार केवल वही व्यक्ति न्यायालय में मुकदमा दायर कर सकता है, जिसका उस मुकदमे से सम्बन्ध होता है। अन्य शब्दों में, जिस व्यक्ति का मुकदमे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह व्यक्ति मुकदमे को न्यायालय में नहीं ले जा सकता है। इस कानूनी व्यवस्था के कारण निर्धन एवं साधनहीन व्यक्ति अपने साथ हो रहे अन्याय के सम्बन्ध में न्यायालय की शरण नहीं ले सकते हैं, क्योंकि ये लोग मुकदमेबाजी का खर्च उठाने की हालत में नहीं होते। जन हित-सम्बन्धी मुकदमा कोई भी सामाजिक कार्यकर्ता दायर कर सकता है। ऐसा मुकदमा दायर करने के लिए निश्चित कानूनी प्रक्रिया का पालन करना आवश्यक नहीं होता है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को डाक द्वारा भेजे गए साधारण-पत्र द्वारा भी मुकदमा दायर हो सकता है। उल्लेखनीय है कि जन हित सम्बन्धी मुकदमे किसी व्यक्ति के विरुद्ध नहीं, बल्कि सरकार के किसी विभाग या अधिकारी अथवा किसी संस्था के विरुद्ध दायर किए जाते हैं। शर्त केवल यह है कि ऐसे मुकदमों का सम्बन्ध जन हित से होना चाहिए।

भारत में न्यायिक सक्रियता का प्रभावी साधन जन हित सम्बन्धी मुकदमे ही हैं। ऐसे मुकदमों में निश्चित न्यायिक नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं होता है। जब सर्वोच्च न्यायालय ऐसे मुकदमों की सुनवायी करता है, तो उसे सरकार को कई तरह के निर्देश जारी करने का अवसर मिल जाता है और सरकार के लिए इन निर्देशों का पालन करना आवश्यक होता है।

न्यायिक सक्रियता के पक्ष में तर्क

(Arguments in Favour of Judicial Activism)

न्यायिक सक्रियता या न्यायिक क्रियाशीलता के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं-

1. अन्य अंगों की निष्क्रियता को समाप्त करने के लिए आवश्यक (Essential for the End of Inertia of Other Organs) - पिछले अनेक वर्षों से न्यायपालिका ने सक्रिय होकर सरकार के अन्य अंगों की निष्क्रियता को लोगों के समक्ष प्रकट किया है। न्यायिक सक्रियता के परिणामस्वरूप ही बैंक घोटाला, चारा घोटाला, हवाला घोटाला, 2-जी स्पेक्ट्रम घोटाला और अन्य अनेक घोटालों पर से पर्दा उठा है और दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध कार्रवाई की गयी है। यदि न्यायपालिका सक्रिय न होती, तो ऐसे घोटाले जनता के समक्ष न आ पाते और न ही भ्रष्ट राजनीतिज्ञों के विरुद्ध मुकदमे दर्ज किए जाते। भारत में विधानपालिका एवं कार्यपालिका के सदस्य राजनीतिक कारणों से अपने उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं करते हैं। अतः सरकार के इन अंगों की निष्क्रियता को समाप्त करने के लिए न्यायिक सक्रियता का होना आवश्यक है।

2. शासन की कार्य-प्रणाली की वास्तविक जानकारी के लिए आवश्यक (Essential for the Actual Knowledge of the Working of Regime)- न्यायिक सक्रियता शासन की कार्य प्रणाली की वास्तविक तस्वीर लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने में सहायक है। न्यायाधीशों को चुनाव नहीं लड़ने होते हैं और न ही इनका कार्यकाल जन-समर्थन पर निर्भर करता है। भारत में न्यायपालिका, विधानपालिका एवं कार्यपालिका के नियन्त्रण से स्वतंत्र है। इस स्वतन्त्रता के कारण न्यायाधीश सरकार के दोनों अंगों को बाध्यकारी निर्देश जारी करते हैं। ऐसे निर्देशों को जारी करने से कार्यपालिका एवं विधानपालिका की अनियमितताएँ उजागर होती हैं और लोगों को शासन की कार्य प्रणाली की वास्तविक जानकारी मिलती है।

3. कानून का शासन बनाए रखने के लिए आवश्यक (Essential for Upholding the Rule of Law) - कानून का शासन

यह मांग करता है कि किसी भी नागरिक के विरुद्ध किसी भी तरह की गैर-कानूनी कार्रवाई न की जाए। यदि कभी सरकार कानून के शासन का उल्लंघन करती है, तो न्यायपालिका कानून के शासन का उल्लंघन करने वाली कार्रवाई को रद्द करके कानून के शासन को बनाए रखती है। इसीलिए कहा जाता है कि कानून के शासन को स्थापित रखने के लिए न्यायिक सक्रियता आवश्यक है।

4. कानून की कमियों को पूरा करने के लिए आवश्यक (Essential to Make-up Deficiencies in Legislation)- यद्यपि कानूनों का प्रारूप विशेषज्ञों द्वारा तैयार किया जाता है, फिर भी कानूनों में कुछ कमियाँ अवश्य रह जाती हैं। कानूनों की व्याख्या करने का अधिकार न्यायालयों को होता है, इसलिए केवल सक्रिय न्यायपालिका ही कानून को त्रुटियों को ठीक प्रकार से दूर कर सकती है। न्यायाधीश कानूनों की व्याख्या करते समय कानूनों के वास्तविक उद्देश्यों का विश्लेषण कर सकते हैं, क्योंकि ये कानून के विशेषज्ञ होते हैं और इनके पास कानूनों के वास्तविक उद्देश्यों की सही जानकारी प्राप्त करने की योग्यता होती है।

5. भविष्य की समस्त स्थितियों का पूर्ण अनुमान लगाना प्रायः असम्भव (Anticipation of All Future Situations is Almost Impossible)- मानवीय व्यवहार के कारण पैदा होने वाली समस्त भविष्यवाणियों का कानून-निर्माताओं द्वारा पूर्ण अनुमान लगाना असम्भव है, इसलिए न्यायिक सक्रियता आवश्यक मानी जाती है। जब न्यायाधीशों के समक्ष ऐसे मुकदमे आते हैं, जिनका समाधान करने के लिए समुचित कानून मौजूद नहीं होता, तो न्यायाधीश अपने विवेक एवं अनुभव और बुद्धि के आधार पर इन मामलों का निपटारा करते हैं। किसी ऐसे मामले को न्यायाधीश यह कह कर खारिज नहीं कर सकते हैं कि उस मामले का निपटारा करने से पहले विधानपालिका द्वारा आवश्यक कानूनों का निर्माण किया जाना चाहिए। इस प्रकार जिन मामलों के विषय में मौजूदा कानूनों की कोई व्यवस्था नहीं होती है, उनसे सम्बन्धित निर्णयों के लिए न्यायिक सक्रियता सर्वोत्तम साधन है।

6. सृजनता एवं नवाचार न्यायिक प्रक्रिया के लिए आवश्यक (Creativity and Innovation are Essential for Judicial Process)- न्यायाधीश कोई यान्त्रिक मानव नहीं है कि वे मशीन के समान न्यायिक प्रक्रिया का संचालन करें। ये सजीव प्राणी होते हैं और सजीव प्राणियों से सम्बन्धित मुकदमों का निबटारा करते हैं। न्यायाधीशों को तरह-तरह के अपराधियों एवं मुकदमों का सामना करना पड़ता है। वकीलों के रूप में कानून-विशेषज्ञों के साथ न्यायाधीशों का निरन्तर सम्पर्क रहता है। जब न्याय करने में मौजूदा कानून सहायक सिद्ध नहीं होते, तो न्यायाधीशों को अपनी न्याय-भावना के आधार पर नवीन कानूनों एवं नियमों का निर्माण करना पड़ता है अथवा किसी कानूनी नवाचार का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे में न्यायिक सक्रियता के कारण ही नवीन विचार एवं अवधारणाएं स्थापित होती हैं।

7. मानव अधिकारों का घोर उल्लंघन रोकने के लिए आवश्यक (Essential to Check the Blatant Violation of Human Rights)- यदि भारत में न्यायपालिका सक्रिय न होती, तो सजा पूरी करने के बाद भी अनेक वर्षों से जेलों में बन्द असंख्य व्यक्तियों को गैर-कानूनी नजरबन्दों से मुक्ति नहीं मिलती; न हो बच्चों के अनैतिक शोषण पर पाबन्दी लगती और न ही स्त्रियों के अनैतिक व्यापार करने वाले अपराधियों के विरुद्ध कोई कानूनी कार्रवाई होती। ऐसे में व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों के उल्लंघन को रोकने के लिए न्यायिक सक्रियता आवश्यक है।

8. न्यायिक सक्रियता को लोगों का समर्थन (People's Support to Judicial Activism)- भारत की जनता को न्यायपालिका की निष्पक्षता पर बहुत विश्वास है और वह अपने साथ हुए अन्याय को दूर करने के लिए या अपने अधिकारों को लागू कराने के लिए न्यायालयों का सहारा लेती है। जनता ने न्यायिक सक्रियता को सराहा है। न्यायिक सक्रियता को जनता का समर्थन मिलना इस बात की पुष्टि करता है कि जनता विधानपालिका, कार्यपालिका एवं नौकरशाही की कार्य प्रणाली से खुश नहीं है और वह न्यायिक सक्रियता को आवश्यक मानती है।

न्यायिक सक्रियता के विरुद्ध तर्क

(Arguments against Judicial Activism)

न्यायिक सक्रियता या न्यायिक क्रियाशीलता के पक्ष में अनेक तर्क या युक्तियाँ होने के बाद भी, इसकी निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गयी है-

1. विधानपालिका एवं कार्यपालिका के क्षेत्रों में हस्तक्षेप (Interference in the Spheres of Legislature and Executive) - संवैधानिक दृष्टि से न्यायिक सक्रियता विधानपालिका एवं कार्यपालिका के क्षेत्र में हस्तक्षेप है। भारतीय संविधान द्वारा सरकार के इन तीनों अंगों की शक्तियाँ एवं कार्य निर्धारित किए गए हैं, अतः किसी भी अंग के लिए अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जाना असंवैधानिक कार्य कहलाएगा। न्यायिक सक्रियता को शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के विरुद्ध माना गया है। न्यायपालिका को सरकार के अन्य अंगों के क्षेत्राधिकार में केवल उस सीमा तक ही हस्तक्षेप करना चाहिए, जिस सीमा तक संविधान ऐसा करने के लिए न्यायपालिका को आज्ञा देता है।

2. न्यायपालिका नहीं, कार्यपालिका लोगों के प्रति उत्तरदायी (Executive, Not Judiciary, is Accountable to People) - न्यायपालिका का प्रत्यक्ष रूप से जनता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। न्यायाधीश न तो जनता के द्वारा चुने जाते हैं और न ही में जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। न्यायाधीशों का कार्यकाल भी जनता की इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। इसके विपरीत, शासन संचालन की जिम्मेदारी कार्यपालिका की होती है, जो जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। जनता ही कार्यपालिका के कार्यों का मूल्यांकन करती है। जनता के प्रति गैर-उत्तरदायी न्यायपालिका के लिए अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जाकर कार्यपालिका को शासन संचालन के सम्बन्ध में निर्देश देना उचित नहीं है।

3. शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के विरुद्ध (Against the Theory of Separation of Powers)- भारत की संसदीय प्रणाली इस सिद्धान्त पर आधारित है कि शासन का संचालन संसद के प्रति उत्तरदायी मन्त्रि-परिषद् द्वारा और कानूनों का निर्माण संसद द्वारा किया जाएगा। भारत में संविधान के द्वारा कानूनों की व्याख्या और कानूनों के अनुसार न्याय करने का कार्य न्यायपालिका को सौंपा गया है। न्यायिक सक्रियता शक्तियों के पृथक्करण के इस सिद्धान्त का उल्लंघन करती है, क्योंकि यह सरकार के अन्य दो अंगों के क्षेत्राधिकार में न्यायपालिका को अनुचित हस्तक्षेप करने की आज्ञा देती है। शासन के कुशल संचालन के लिए आवश्यक है कि सरकार का प्रत्येक अंग अपने निर्धारित क्षेत्राधिकार के अन्दर काम करते हुए दूसरे अंगों के क्षेत्राधिकार का सम्मान करें।

4. न्यायपालिका द्वारा शासन अलोकतान्त्रिक (Governance by Judiciary is Undemocratic)-शासन करना न्यायपालिका का कार्य नहीं है, क्योंकि लोकतन्त्र के सिद्धान्त के अनुसार शासन संचालन का कार्य जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। लोकतंत्र में सरकार लोगों के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि सरकार लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं है, तो ऐसी सरकार को लोकतान्त्रिक सरकार नहीं कहा जा सकता है। जय न्यायाधीश शासन संचालन के सम्बन्ध में कार्यपालिका को अथवा कानूनों के निर्माण के सम्बन्ध में विधानपालिका को बाध्यकारी निर्देश देते हैं, तो तब वे शासन संचालन का कार्य अपने हाथों में ले रहे होते हैं। न्यायपालिका को शासन संचालन के सम्बन्ध में निर्देश नहीं देना चाहिए।

5. न्यायिक निरंकुशता स्थापित होने की सम्भावना (Possibility of Establishing Judicial Despotism)- प्रायः यह कहा जाता है कि जब सरकार के दूसरे अंग निष्क्रिय होते हैं, तो न्यायिक सक्रियता अनिवार्य हो जाती है। न्यायिक सक्रियता के समर्थकों की यह धारणा है कि जब कानूनों का निर्माण करने वाले और कानूनों को लागू करने वाले व्यक्ति अपने निर्धारित दायित्व पूरा नहीं करते, तो न्यायिक सक्रियता के द्वारा न्यायपालिका उनसे उनके दायित्व पूरा कराती है। ऐसे में यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि न्यायपालिका ही अपनी सीमाएँ लाँघकर अन्य अंगों के कार्यों में हस्तक्षेप करने लगेगी, तो न्यायपालिका को ऐसा करने से कौन रोकेगा। न्यायपालिका प्रत्यक्ष रूप से किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है। ऐसे में न्यायपालिका की यह भूमिका न्यायिक निरंकुशता स्थापित कर सकती है।

6. न्यायालयों के दैनिक काम-काज पर दुष्प्रभाव (Adverse Impact on the Routine Work of Courts)- न्यायिक सक्रियता के विरुद्ध यह तर्क भी दिया जाता है कि इसके कारण न्यायालयों के दैनिक काम-काज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जब जन-हित-संबंधी के मामले न्यायालयों में आने लगते हैं, तो न्यायालयों का काम-काज बढ़ जाता है। व्यक्ति को सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों में जन हित से सम्बन्धित मुकदमे दायर करने के लिए किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। इस कार्य के लिए वकील की फीस एवं निश्चित कानूनी प्रक्रिया का पालन करने की भी आवश्यकता नहीं होती

है। यहां तक कि न्यायालय की फीस भी जमा करने की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसी स्थिति में, जन हित-सम्बन्धी असंख्य मुकदमों का न्यायालयों में आना स्वाभाविक है। भारत में पहले ही लाखों मुकदमों न्यायालयों में लम्बित हैं और न्यायालय इन मुकदमों को निबटाने में स्वयं को असहाय महसूस कर रहे हैं। न्यायिक सक्रियता के कारण जन हित के मुकदमों में वृद्धि होती है, जिसका न्यायालयों के दैनिक काम-काज पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

7. लोकवाद के प्रति आकर्षण का न्यायिक निष्पक्षता पर दुष्प्रभाव (Adverse Impact of Temptation towards Populism on Judicial Impartiality)-

न्यायिक सक्रियता को भारतीय जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। न्यायिक सक्रियता के फलस्वरूप बड़े-बड़े भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, मन्त्रियों एवं अधिकारियों के विरुद्ध सरकार को कार्रवाई करनी पड़ी है। न्यायिक सक्रियता के कारण ही अनेक घोटालों के सम्बन्ध में लोगों को जानकारी मिली है और अनेक नेताओं की असली तस्वीर लोगों के सामने आयी है। ऐसे में लोगों का भारी समर्थन न्यायाधीशों को लोकवाद के प्रति आकर्षित कर सकता है। जब समाचार-पत्र और संचार के अन्य माध्यम जन हित के मुकदमों के सम्बन्ध में न्यायाधीशों के निर्णयों को प्रकाशित करते हैं, तो ये साथ में निर्णय देने वाले न्यायाधीशों के नाम भी प्रकाशित कर देते हैं। ऐसी स्थिति में न्यायाधीशों को बहुत लोकप्रियता मिलती है। न्यायिक सक्रियता के आलोचक कहते हैं कि न्यायाधीश भी अन्य व्यक्तियों की तरह ख्याति पाने के इच्छुक हो सकते हैं। न्यायाधीशों की ऐसी इच्छा उन्हें लोकवादी निर्णय देने के लिए प्रेरित कर सकती है। ऐसी स्थिति में न्यायिक निष्पक्षता पर बुरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

निष्कर्ष (Conclusion)- भारत की वर्तमान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में न्यायिक सक्रियता एक आवश्यकता है, किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि न्यायिक सक्रियता का उद्देश्य सरकार के अन्य अंगों को सक्रिय बनाना होना चाहिए। भारत के लिए ऐसी न्यायिक सक्रियता हानिकारक है, जो देश में न्यायिक निरंकुशता स्थापित करे। इस विषय में जस्टिस एच.आर. खन्ना का कहना है, "न्यायाधीशों का यह विशेष दायित्व है कि वे अधिक सक्रिय भूमिका से बचें और इस बात को विश्वसनीय बनाएँ कि सरकार के दूसरे अंगों के निर्धारित क्षेत्राधिकार में अनुचित हस्तक्षेप न हो।"

महत्त्वपूर्ण प्रश्न (IMPORTANT QUESTIONS)

1. न्यायिक पुनर्निरीक्षण से आपका क्या अभिप्राय है? भारत में इसके स्वरूप का वर्णन कीजिए।

(What do you mean by Judicial Review? Discuss its nature in India)

2. न्यायिक पुनर्निरीक्षण से आपका क्या अभिप्राय है? न्यायिक पुनर्निरीक्षण की आलोचनात्मक व्याख्या करें।

(What is Judicial Review? Critically examine judicial review in India?)

3. न्यायिक पुनर्निरीक्षण से आपका क्या अभिप्राय है? इसके पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए।

(What do you mean by Judicial Review! Make a case for and against it.)

4. न्यायिक पुनर्निरीक्षण के स्वरूप एवं महत्व का वर्णन करो।

(Explain the nature and significance of Judicial Review)

5. न्यायिक सक्रियता क्या है ? इसके पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए।

Unit-III

भारतीय दलीय प्रणाली की विशेषताएँ/प्रकृति (Features/Nature of Indian Party System)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त उभरी भारत की दलीय प्रणाली की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं-

1. बहु-दलीय प्रणाली (Multi-Party System) – भारत की दलीय प्रणाली की प्रमुख विशेषता बहु-दलीय प्रणाली है। यहाँ फ्रांस एवं स्विट्जरलैंड की भाँति बहु-दलीय प्रणाली है। 1996 में हुए लोक सभा चुनावों के समय भारत में ऐसे आठ राष्ट्रीय दल और 30 क्षेत्रीय दल थे, जिन्हें चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्रदान की गयी थी। वर्तमान में देश में सात राष्ट्रीय दल हैं- (i) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, (ii) भारतीय जनता पार्टी, (iii) भारतीय साम्यवादी दल. (iv) भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी). (v) बहुजन समाज पार्टी, (vi) राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी एवं (vii) तृण मूल कांग्रेस। इन राष्ट्रीय दलों के अतिरिक्त भारत में अनेक क्षेत्रीय दल भी मौजूद हैं; जैसे-तमिल नाडु में, डी.एम.के., ए.आई. अन्ना.डी.एम.के. एवं तमिल मनीला कांग्रेस गठबंधन, आंध्र प्रदेश में तेलुगू देशम, पंजाब में अकाली दल, पंजाब लोक कांग्रेस, हरियाणा में इण्डियन नेशनल लोक दल एवं जनता जननायक पार्टी, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल एवं जनता दल (यू.), पश्चिम बंगाल में तृण मूल कांग्रेस, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी आदि।

2. एक दल की प्रधानता के युग की समाप्ति (End of the Era of One Party Dominance) - भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में काफी समय तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रभुत्व बना रहा। चौथे आम चुनावों (1967) से पहले केन्द्र और प्रायः सभी राज्यों में कांग्रेस पार्टी को ही प्रधानता रही। चौथे आम चुनावों 1967 में आठ राज्यों में कांग्रेस पार्टी को बहुमत प्राप्त होने के कारण इनमें गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं, किन्तु ये अधिक समय तक नहीं चल सकी। 1971 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को बहुत भारी सफलता मिली और केन्द्र में इसकी सरकार स्थापित हुई। आपात काल के दौरान किए गए अत्याचारों के कारण मार्च, 1977 में होने वाले आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को भारी पराजय का सामना करना पड़ा, जिसके कारण पहली बार केन्द्र में गैर-कांग्रेसी सरकार बनी। अप्रैल-मई, 2014 में हुए 16वीं लोक सभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी की करारी हार हुई, क्योंकि इसे मात्र 44 सीटें ही प्राप्त हुई। 2014 और 2019 के चुनावों में जरूर बीजेपी पार्टी की प्रधानता रही, लेकिन अब ऐसा लगता है कि भारतीय राजनीति में एक दल का प्रभुत्व जरूर समाप्त हो गया है।

3. सांप्रदायिक एवं क्षेत्रीय दल (Communal and Regional Parties)- भारतीय दलीय प्रणाली की एक अन्य विशेषता सांप्रदायिक एवं क्षेत्रीय दलों का होना है। मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा आदि सांप्रदायिक दल ही कहलाएँगे। यहाँ सांप्रदायिक दलों के साथ-साथ अनेक क्षेत्रीय दलों का भी गठन किया गया। इनमें जम्मू एवं कश्मीर की नेशनल कॉन्फ्रेंस, आंध्र प्रदेश की तेलुगू देशम, तमिल नाडू की डी.एम.के. एवं ए.आई. अन्ना डी.एम.के., पंजाब का अकाली दल, उत्तर प्रदेश की समाजवादी पार्टी, ओडिशा का बीजू जनता दल आदि प्रमुख हैं। ये दल अपने-अपने राज्यों में सत्तारूढ़ रहते हैं: जैसे-उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी, हरियाणा में इण्डियन नेशनल लोक दल। इतना ही नहीं मोदी सरकार में कई क्षेत्रीय दल भागीदारी रहे हैं।

4. प्रभावशाली विरोधी दल का उदय (Rise of Effective Opposition)- 1989 से पहले भारत में कोई प्रभावशाली विरोधी दल नहीं रहा, क्योंकि यहाँ एक ही दल अर्थात् कांग्रेस पार्टी का प्रभुत्व था। यही आम चुनावों में सबसे अधिक सीटें प्राप्त करती थीं यद्यपि मार्च 1971 के चुनावों के समय कांग्रेस (संगठन), भारतीय जन संघ एवं समाजवादी पार्टी ने राष्ट्रीय स्तर पर गठजोड़ करने का प्रयास किया था, किन्तु इसमें इन्हें कोई सफलता नहीं मिली थी।

मार्च 1977 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी को काफी स्थान प्राप्त हुए, फिर भी आन्तरिक फूट के कारण यह शक्तिशाली विरोधी दल के रूप में कार्य नहीं कर सकी। जनवरी, 1978 में कांग्रेस पार्टी के विभाजन के पश्चात् कांग्रेस (आई) के नेता सी.एम. स्टीफन को लोक सभा में और कमलापति त्रिपाठी को राज्य सभा में विरोधी दल के नेता के रूप में मान्यता दी गयी, किन्तु 1980 एवं 1984 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को भारी बहुमत प्राप्त हुआ, जिसके कारण विपक्षी दलों की स्थिति इतनी खराब हो गयी कि इनमें से कोई भी दल अपनी शक्ति के आधार पर लोक सभा में विपक्षी दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने की स्थिति में नहीं रहा। किन्तु 1989 के लोक सभा के चुनावों के पश्चात् कांग्रेस पार्टी संगठित विरोधी दल के रूप में

स्थापित हुआ। 1991 के लोक सभा चुनावों में 117 स्थान प्राप्त करके भारतीय जनता पार्टी विरोधी दल के रूप में स्थापित हुई और एल. के. आडवाणी को विरोधी दल के नेता के रूप में मान्यता मिली।

जब 1996 में हुए लोक सभा चुनावों के पश्चात् जब भारतीय जनता पार्टी द्वारा अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में सरकार का गठन किया गया, तो कांग्रेस पार्टी की विरोधी दल के रूप में मान्यता दी गयी। जब भारतीय जनता पार्टी की सरकार गिर गयी, तो पहले एच.डी. देवेगौड़ा और बाद में इंद्र कुमार गुजराल के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा सरकार का गठन किया गया, तो भारतीय जनता पार्टी, जो लोक सभा में सबसे बड़ा दल था, के नेता अटल बिहारी वाजपेयी की विरोधी दल के नेता के रूप में मान्यता मिली। 16वीं लोक सभा में तो कांग्रेस मान्यता प्राप्त विरोधी दल का दर्जा प्राप्त नहीं था, किन्तु राज्य सभा में यह मजबूत स्थिति में थी। वर्तमान लोकसभा में कांग्रेस पार्टी मुख्य विपक्षी दल की भूमिका में हैं।

5. विचारधारा की अपेक्षा व्यक्तित्व पर अधिक बल (More Emphasis on Personality Rather than Ideology)- भारतीय दलीय व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि राजनीतिक दलों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों की अपेक्षा व्यक्ति (नेता) को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कांग्रेस पार्टी 1964 तक पण्डित जवाहर लाल नेहरू के नाम से चलती रही। तत्पश्चात् इसके साथ 1984 तक इन्दिरा गांधी का नाम और 1991 तक राजीव गांधी का नाम जुड़ा रहा। 1980 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी की जीत एक प्रकार से इंदिरा गांधी की जीत थी। 1984 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी की विजय का मुख्य कारण प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी की हत्या से उत्पन्न सहानुभूति की लहर थी। इसी प्रकार भारतीय जनता पार्टी का नाम अटल बिहारी वाजपेयी एवं एल.के. आडवाणी के नाम से जुड़ा रहा है। जनता दल वी.पी. सिंह एवं चंद्रशेखर के नाम से जुड़ा हुआ था। समता पार्टी जॉर्ज फर्नांडिस और बहुजन समाज पार्टी पहले काशीराम और अब मायावती के नाम जुड़ी हुई है। वर्तमान में बीजेपी पार्टी श्री नरेंद्र मोदी के नाम से जानी जाती है।

6. स्वतंत्र सदस्य (Independent Members)- यद्यपि भारत में बहु-दलीय प्रणाली मौजूद है, फिर भी, यहाँ संसद एवं राज्य विधानमण्डलों में स्वतंत्र अथवा निर्दलीय सदस्यों की काफी संख्या देखने को मिलती है।

7. राजनीतिक दलों की नीतियों एवं कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव (Absence of Clear-cut Distinction of Policies and Programmes among Political Parties)- भारत की दलीय प्रणाली की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ एक-दो दलों को छोड़कर बाकी राजनीतिक दलों की विचारधाराओं एवं नीतियों में कोई खास भेदभाव देखने को नहीं मिलता। उदाहरण के लिए कांग्रेस पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल (यू) जनता दल (एस), राष्ट्रीय लोक दल, आदि सभी पार्टियाँ समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता, लोकतंत्र के नारे लगाती हैं। अनेक राजनीतिक दलों के पास कोई निश्चित कार्यक्रम न होने के कारण उनके द्वारा विध्वंसकारी कार्यों का सहारा लिया जाता है या फिर क्षेत्रीय भावनाओं को उभारा जाता है।

8. अवसरवादिता की प्रवृत्ति (Trend of Opportunism)- भारतीय राजनीति में शुरू से ही अवसरवादिता चली जा रही है। हाल के वर्षों में यह उग्र रूप धारण करती जा रही है। 1980 में केरल विधान सभा चुनावों में कांग्रेस पार्टी एवं जनता पार्टी ने एक-दूसरे के साथ मिलकर चुनाव लड़ा था। जब कि लोक सभा में ये दोनों दल एक-दूसरे के विरोधी थे। पंजाब में अकाली दल एवं भारतीय जन संघ ने मिलकर सरकार की स्थापना की थी। इसी प्रकार कांग्रेस पार्टी ने तमिल नाडु में डी.एम.के. के साथ गठबंधन किया, जब कि कुछ वर्ष पहले अर्थात् संकटकाल में प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी ने तमिल नाडु की सरकार को तोड़ा था। अकाली दल के नेता प्रकाश सिंह बादल एवं जगदेव सिंह तलवण्डी जम्मू-कश्मीर के चुनावों में डॉ फारुख अब्दुल्ला की नेशनल कांग्रेस के पक्ष में काम करने के लिए गए थे। 1989 के लोक सभा चुनावों के उपरान्त जनता दल ने परस्पर विरोधी माने जाने वाले साम्यवादी दलों एवं भारतीय जनता पार्टी के बाहरी समर्थन से सरकार का गठन किया था। 1996 के लोक सभा चुनावों के पश्चात् केन्द्र में सत्ता में आने के लिए 13 दलों द्वारा गठित संयुक्त मोर्चा इसका सष्ट उदाहरण है। चुनावों से पूर्व और चुनावों के समय ये दल एक-दूसरे का पूरी तरह से विरोध कर रहे थे, किन्तु सत्ता के लालब ने इन्हें परस्पर जोड़ दिया था। कुछ ऐसी ही स्थिति 1998 में हुए लोक सभा चुनावों के पश्चात् उत्पन्न हुई। पश्चिम बंगाल में कांग्रेस पार्टी एवं साम्यवादी दलों ने एक-दूसरे का जोरदार विरोध किया और एक-दूसरे के विरुद्ध अपने उम्मीदवार खड़े किए, किन्तु भारतीय जनता पार्टी को सत्ता से बाहर रखने के लिए साम्यवादी दल कांग्रेस पार्टी का समर्थन करने को तैयार थे।

9. राजनीतिक दलों का पंजीकरण (Registration of Political Parties) - संसद द्वारा 1988 में जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में संशोधन किया गया, जिसके अनुसार राजनीतिक दलों के लिए चुनाव आयोग के पास पंजीकृत होना अनिवार्य कर दिया गया। अब कोई दल तब तक राजनीतिक दल नहीं माना जाता है, जब तक वह चुनाव आयोग के पास पंजीकृत नहीं होता। पंजीकरण के लिए प्रत्येक राजनीतिक दल को चुनाव आयोग में आवेदन-पत्र भेजना होता है, जिसके साथ उसे अपने संविधान की एक प्रति भी लगानी होती है। अप्रैल-मई 2014 में हुए 16वीं लोक सभा चुनाव के समय निर्वाचन आयोग के पास 1687 राजनीतिक दलों के नाम दर्ज थे।

10. दलों का ढीला संगठन (Loose Organisation of Political Parties)— भारत के अधिकांश का संगठन ढीला - ढाला है जिसके चलते सदस्यों में अनुशासन का अभाव है। यहाँ राजनीतिक दलों में शामिल अधिक नेता अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए दलीय अनुशासन की परवाह नहीं करते। यदि दल के किसी सदस्य को किसी चुनाव में टिकट नहीं मिलता तो वह दल से त्यागपत्र देकर दल के अधिकृत उम्मीदवार के विरुद्ध चुनाव में खड़ा हो जाता है। कौं बार ऐसे सदस्य अपना अलग ही दल बना लेते हैं।

11. राजनीतिक दलों में गुटबंदी (Factionalism in Political Parties) - भारत की दलीय प्रणाली की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ प्रायः सभी दलों में गुटबंदी मौजूद है। गुटबंदी के चरम सीमा पर पहुंचने के कारण ही 1969 में कांग्रेस पार्टी का विभाजन हुआ था। 1977 में जिस जनता पार्टी का गठन हुआ था, उसमें प्रारंभ से ही गुटबंदी चली जा रही थी। सतारूढ़ दलों में प्रायः एक गुट मंत्रियों का और दूसरा गुट असंतुष्टों का होता है। असंतुष्ट गुट खुलेआम सत्ताधारी गुट की आलोचना करता है और उसमें शामिल नेताओं पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाता है। 16वीं लोक सभा के चुनावों (2014) के समय अनुशासित मानी जाने वाली भारतीय जनता पार्टी में गुटबंदी स्पष्ट नजर आयी थी, जब पार्टी के कुछ वरिष्ठ नेताओं-एल. के. आडवाणी एवं मुरली मनोहर जोशी ने नरेन्द्र मोदी के प्रधान मंत्री पद के उम्मीदवार के रूप में चुने जाने का विरोध किया था।

12. दल-बदल (Defections)- भारत की दलीय प्रणाली की एक अन्य विशेषता है-दल-बदल की प्रवृत्ति। यहाँ 1957 से लेकर 1970 तक 4000 विधायकों में से लगभग 1400 विधायकों ने दल-बदल किया था। दल-बदल को इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए समय-समय पर प्रयास किए गए, लेकिन इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्ततः 1985 में 52वें संशोधन अधिनियम द्वारा दल-बदल पर रोक लगाने का सार्थक प्रयास किया गया, लेकिन फिर भी दल-बदल जारी रहा। इसे नियन्त्रित करने के लिए 2003 में 91वाँ संशोधन अधिनियम लाया गया। इस दिशा में यह एक सख्त कदम था, लेकिन तब भी दल-बदल पर पूरी तरह अंकुश नहीं लग पाया। अक्टूबर 2009, में हुए हरियाणा विधान सभा चुनावों के बाद हरियाणा जनहित कांग्रेस के पाँच विधायकों का कांग्रेस पार्टी में शामिल हो जाना यही सिद्ध करता है। वर्तमान में भी दल-बदल जारी है।

13. राजनीतिक दलों के अन्दर आन्तरिक लोकतंत्र का अभाव (Lack of Inner Democracy within Political Parties) - भारत के राजनीतिक दलों की एक अन्य विशेषता यह है कि इनमें आन्तरिक लोकतंत्र देखने को नहीं मिलता है। वस्तुतः यहाँ राजनीतिक दल लोकतांत्रिक सिद्धांतों एवं मूल्यों पर आधारित नहीं है। यहाँ राजनीतिक दलों के संगठनात्मक चुनाव वर्षों तक नहीं होते हैं। अप्रैल 1992 में 22 वर्षों के बाद कांग्रेस पार्टी के संगठनात्मक चुनाव हुए थे।

1998 के बाद से लेकर वर्तमान अर्थात् मार्च, 2022 तक कांग्रेस पार्टी के संगठनात्मक चुनाव नहीं हुए। संगठनात्मक चुनाव न होने से प्रायः दलों में तानाशाही की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यहाँ राजनीतिक दलों द्वारा आम कार्यकर्ताओं अथवा सदस्यों की सहमति से निर्णय नहीं लिए जाते हैं, बल्कि दलों के शीर्षस्थ नेताओं द्वारा ही निर्णय लिए जाते हैं। प्रधान मंत्री या मुख्य मंत्री का चयन दल के सांसदों या विधायकों द्वारा नहीं, बल्कि दलों के हाई कमाण्ड द्वारा किया जाता है।

15. गैर-संवैधानिक निकाय (Extra-Constitutional Bodies) - भारतीय संविधान ने देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की है, जिसके सफल संचालन करने के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है, किन्तु संविधान में राजनीतिक दलों की व्यवस्था नहीं की गयी है। इस नाते, चीन के विपरीत, भारत में राजनीतिक दल गैर-संवैधानिक निकाय हैं।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका (Role of Regional Parties in Indian Politics)

आज भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दल महत्वपूर्ण भूमिका निभा कर रहे हैं। आज देश में 50 से भी अधिक पंजीकृत क्षेत्रीय दल हैं, जो विभिन्न राज्यों में शासक दल अथवा प्रमुख विरोधी दल के रूप में कार्य कर रहे हैं। क्षेत्रीय दल अपने-अपने राज्य में अच्छी सरकारें चला रहे हैं और राज्य का विकास कर रहे हैं। आन्ध्र प्रदेश में लम्बे समय तक तेलुगू देशम पार्टी ने शासन किया, जिसमें राज्य के प्रत्येक क्षेत्र का विकास हुआ। चन्द्र बाबू नायडू देश के सफल मुख्य मंत्रियों में से एक रहे हैं। इसी प्रकार करुणानिधि, जयललिता, देवी लाल. रामकृष्ण हेगड़े, नवीन पटनायक, मुलायम सिंह यादव, प्रकाश सिंह बादल, फारुख अब्दुल्ला आदि ऐसे गैर-कांग्रेसी मुख्य मंत्री रहे हैं, जिन्होंने न केवल राज्यों की राजनीति को, बल्कि राष्ट्रीय राजनीति को भी प्रभावित किया है।

1989 के बाद केन्द्र सरकार के निर्माण में क्षेत्रीय दलों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 1989 में जनता दल के गठन के बाद वी.पी. सिंह के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय मोर्चा सरकार में कई क्षेत्रीय दलों की प्रमुख भूमिका रही थी। इसी प्रकार 1996 में बनी भारतीय जनता पार्टी की सरकार 13 दिन ही चल पायी, क्योंकि उसे क्षेत्रीय दलों का समर्थन नहीं मिल पाया था। 1998 एवं 1999 में बनी केन्द्र सरकारों में क्षेत्रीय दलों का योगदान रहा। 1998 में क्षेत्रीय दलों के समर्थन से अटल बिहारी वाजपेयी की जिस सरकार का गठन हुआ था, वह ऑल इण्डिया अन्ना डी.एम.के. द्वारा समर्थन वापस लिए जाने के कारण 13 महीने बाद गिर गयी थी। 1999 में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी 'राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन' को सरकार में जो 24 घटक शामिल थे, उनमें अधिकांश क्षेत्रीय दल ही थे। 2004 एवं 2009 में डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में केन्द्र में जिन संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकारों का गठन हुआ, उनमें भी कई क्षेत्रीय दल शामिल थे; जैसे राष्ट्रीय लोक दल, लोक जन शक्ति पार्टी, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, तेलंगाना राष्ट्र समिति, पी.एम.के., एम.डी.एम. के., झारखंड मुक्ति मोर्चा आदि। वर्तमान की राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार में अनेक क्षेत्रीय दल सत्ता में भागीदार हैं।

क्षेत्रीय दलों के बढ़ते हुए प्रभाव से देश की राजनीति के साथ-साथ भारतीय संघीय प्रणाली भी प्रभावित हुई है। आज राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी नहीं है। क्योंकि राज्य अनेक क्षेत्रों में स्वतंत्र नीति अपना रहे हैं। ऐसे अनेक अवसर भी देखे गए, जब राज्य सरकारों ने केन्द्र सरकार के आदेशों की अवहेलना की। राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारें बनने के बाद केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में भी परिवर्तन हुआ है। आज राज्य सरकारें केन्द्र पर दवाव की राजनीति करती हैं। कभी-कभी तो ये सौदेबाजी एवं प्रतियोगिता की राजनीति भी करती है। क्षेत्रीय दलों के बढ़ते प्रभाव और केन्द्र सरकार में क्षेत्रीय दलों की भागीदारी से प्रधान मंत्री की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दल निर्णायक भूमिका अभिनीत कर रहे हैं।

1989 के लोक सभा चुनावों के समय क्षेत्रीय दलों की संख्या 20 तक पहुँच गयी थी। इसके बाद भी क्षेत्रीय दलों का गठन किया जाता रहा। 11वीं लोक सभा के चुनावों (1998) के समय इनकी संख्या बढ़कर 30 और 13वीं लोक सभा के चुनावों (1999) के समय यह संख्या बढ़कर 40 हो गयी। 15वीं लोक सभा के चुनावों (2009) के समय देश में मान्यता प्राप्त क्षेत्रीय दलों की संख्या 46 और गैर-मान्यता प्राप्त क्षेत्रीय दलों की संख्या 980 थी। 16वीं लोक सभा के चुनावों (2014) के समय चुनाव आयोग ने 56 क्षेत्रीय दलों को मान्यता प्रदान की थी। इन मान्यता-प्राप्त दलों के अलावा देश में सैकड़ों गैर-मान्यता प्राप्त क्षेत्रीय दल भी हैं।

क्षेत्रीय दलों की न केवल सरकार बनाने में, बल्कि सरकार गिराने या गिरती सरकार को जीवनदान देने में भी भूमिका रही है। 1998 में गठित वाजपेयी सरकार तब अल्पमत में आ गयी थी, जब ऑल इण्डिया अन्ना डी.एम.के. ने इस सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया था। जब इस सरकार ने लोक सभा में विश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किया, तो नेशनल काँग्रेस नामक क्षेत्रीय दल की अन्दरूनी फूट के कारण यह सरकार एक मत से पराजित हो गयी, जिसके कारण प्रधान मंत्री को त्याग-पत्र देना पड़ा। इसी प्रकार, जब जुलाई, 2008 में अमेरिका के साथ परमाणु समझौते के मुद्दे पर 66 सदस्यों वाले साम्यवादी गुट ने मनमोहन सिंह सरकार से अपना समर्थन वापस लिया, तो यह सरकार अल्पमत में आ गयी। ऐसे नाजुक समय में इस गिरती सरकार को समाजवादी पार्टी ने 'बिना किसी शर्त के', अपना समर्थन देकर डूबने से बचा लिया। इसी प्रकार, जब 2013 में द्वितीय मनमोहन सिंह सरकार से तृण मूल कांग्रेस नामक क्षेत्रीय दल ने अपना समर्थन वापस लिया, तो सरकार पर संकट के बादल

मंडराने लगे। ऐसे समय में समाजवादी पार्टी ने इस सरकार की रक्षा की। इसी समय केन्द्र सरकार ने बिहार के क्षेत्रीय दल, जनता दल (यू.) के नेतृत्व से समर्थन प्राप्त करने की कोशिश भी की, जिससे कि समाजवादी पार्टी का समर्थन जारी न रहने की स्थिति में, राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबन्धन से बाहर आयी इस क्षेत्रीय पार्टी का समर्थन लिया जा सके। प्रधान मंत्री नरेन्द्र मोदी की पहली दो सरकारों में भी अकाली दल, शिव सेना, लोक जन शक्ति पार्टी जैसे कई क्षेत्रीय दल शामिल रहे हैं।

इतना ही नहीं, अनेक क्षेत्रीय दल प्रमुख मंत्रालय प्राप्त करने में भी सफल रहे हैं। 2004 एवं 2009 में सत्ता में आये संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकारों में क्रमशः राष्ट्रीय जनता दल के नेता लालू प्रसाद यादव एवं तृण मूल कांग्रेस की नेता ममता बनर्जी ने रेलवे मंत्रालय जिद करके प्राप्त किया था। जिस तरह भारतीय राजनीति में परिवर्तन होता है, उसको देखकर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि भविष्य में किसी क्षेत्रीय दल का नेता प्रधानमंत्री के पद पर आसीन हो जाए। इसी प्रकार एक क्षेत्रीय दल अपने नेता जी.सी.एम. बालयोगी को पहले मार्च, 1998 में और आगे चलकर अक्टूबर 1999 में लोक सभा अध्यक्ष का पद दिलाने में सफल रहा था। जब मार्च, 2002 में बालयोगी का हेलीकॉप्टर दुर्घटना में देहान्त हो गया था, तो महाराष्ट्र के क्षेत्रीय दल शिव सेना के मनोहर जोशी ने लोक सभा अध्यक्ष का पद संभाला था।

क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव (EFFECT OF REGIONAL PARTIES ON INDIAN POLITICS)

भारत की राजनीति, भारत की दल प्रणाली और समूची भारतीय राजनीतिक प्रणाली पर क्षेत्रीय दलों के प्रभाव अग्रलिखित शीर्षकों में वर्णित किए जा सकते हैं-

1. एक दल के राजनीतिक एकाधिकार का अन्त (End of Political Monopoly of one Political Party)-विदेशी परतन्त्रता से भारत को स्वतन्त्र करवाने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी भारत के शासन की बागडोर इस दल ने ही सम्भाली थी। 1976 तक भारतीय राजनीति में इस दल का राजनीतिक एकाधिकार बना रहा था। 1967 से 1969 के मध्य, 1969 से 1971 के समय, 1977 से 1979, 1989 से 1991 तथा 1996 से 2004 के समय को छोड़कर शेष समय में कांग्रेस का ही राजनीतिक एकाधिकार प्रचलित रहा था। यह ठीक है कि कई राज्यों में कुछ क्षेत्रीय दलों अथवा राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की सरकारें समय-समय पर बनती रही थीं। परन्तु समूचे रूप में भारतीय राजनीति में कांग्रेस की प्रमुखता बनी रही थी। परन्तु क्षेत्रीय दलों के विकास ने 1989 से अब तक हुए चुनावों में कांग्रेस पार्टी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया।

2. वास्तविक बहुदलीय प्रणाली कार्यरूप में (Real Multi-Party System in Operation)- आरम्भ से ही स्वतन्त्र भारत में बहुदलीय प्रणाली का अस्तित्व विद्यमान है। पर यह प्रणाली वास्तव में बहुदल प्रणाली नहीं थी, क्योंकि उस प्रणाली में कांग्रेस की राजनीतिक प्रमुखता इतनी अधिक थी कि उस प्रणाली को एक दल के प्रभुत्व वाली प्रणाली (Single Dominant Party System) कहा जाता था। 1976 तक भारत में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की संख्या चाहे काफी अधिक थी, परन्तु कांग्रेस की प्रमुखता के कारण भारत की दल प्रणाली वास्तविक तौर पर बहुदल प्रणाली नहीं मानी जाती थी। परन्तु 1967 के चुनावों से क्षेत्रीय दलों का विकास ऐसे रूप में होना आरम्भ हो गया था कि भारत की दल प्रणाली धीरे-धीरे वास्तविक बहुदलीय प्रणाली का रूप धारण करने लग पड़ी थी। 1989 से 2019 के मध्य हुए लोकसभा के नौ चुनावों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत में वास्तविक बहु-दलीय प्रणाली ने व्यावहारिक रूप धारण कर लिया है।

3. गठबन्धन की राजनीति का विकास (Rise of Coalitional Politics)- क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के कारण भारत में गठबन्धन की राजनीति का विकास हुआ है। पिछले पांच चुनावों में त्रिशंकु संसद् (Hung Parliament) के अस्तित्व में आने के कारण सारे राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को यह विश्वास हो गया है कि अन्य राजनीतिक दलों के साथ गठबन्धन किए बिना कोई भी दल राजनीतिक शक्ति को ग्रहण नहीं कर सकता है। इसीलिए कोई भी राजनीतिक दल अकेले तौर पर चुनाव लड़ने को तैयार नहीं है।

4. केन्द्र में साझा सरकारों का आगमन (Advent of Coalitional Governments at the Centre)-क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की बढ़ती महत्ता के फलस्वरूप ही केन्द्र में साझा सरकारों का आगमन हुआ है। ऐसी साझा सरकारों में क्षेत्रीय दल भी शामिल हुए हैं। साझा सरकारों के निर्माण का मुख्य कारण ही यह है कि अनेकों ही क्षेत्रीय दलों के प्रतिनिधि लोकसभा के सदस्य चुने जाते हैं।

5. अल्पमत की सरकारों का निर्माण (Formation of Minority Governments) – क्षेत्रीय दलों ने न केवल साझा सरकारों के निर्माण को आवश्यक बना दिया है, अपितु क्षेत्रीय दलों की बढ़ती राजनीतिक महत्ता के कारण ही अल्पमत की सरकारों का निर्माण भारतीय राजनीति की साधारण विशेषता बन गई है। अल्पमत की सरकार से अभिप्राय ऐसी सरकार से है जिसे लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं होता है और ऐसी सरकार कुछ अन्य राजनीतिक दलों के बाहरी समर्थन पर निर्भर करती है।

6. केन्द्र सरकार की कमजोर स्थिति (Weak Position of Central Government)- अल्पमत की सरकार में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं वाले कई राजनीतिक दल शामिल होते हैं। ऐसी सरकार कई अन्य राजनीतिक दलों के बाहरी समर्थन पर भी निर्भर करती है। ऐसी सरकार में राजनीतिक एकरूपता की भी कमी होती है। ऐसी स्थिति में केन्द्र सरकार महत्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए कम ही स्वतन्त्र होती है। प्रधानमंत्री सरकार में शामिल सभी राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्हें खुश रखना चाहता है और इस उद्देश्य के लिए उन राजनीतिक दलों का अनुचित दबाव भी विवशतापूर्वक उसे सहना पड़ता है। केन्द्र सरकार में भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की सहभागिता के कारण केन्द्र सरकार की स्थिति कमजोर होती है और सरकार के लिए दीर्घकालीन नीतियों का निर्माण करना एक कठिन समस्या होती है।

7. राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का पतन (Decline of National Political Parties) - क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की बढ़ती संख्या और महत्ता राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के पतन के लिए उत्तरदायी है। चुनाव आयोग के पास पंजीकृत 2700 से भी अधिक राजनीतिक दलों में से केवल 8 दल ही राष्ट्रीय राजनीतिक दल हैं और शेष दल क्षेत्रीय स्वरूप के हैं। जब राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को महत्वपूर्ण क्षेत्रीय राजनीतिक दलों और कुछ छोटे-छोटे क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के साथ भी विवशतापूर्वक चुनावी समझौते करने पड़े तो राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की महत्ता का पतन होना बिल्कुल स्वाभाविक होता है।

8. संघवाद का नवीन रूप (New Form of Federalism)- कांग्रेस की राजनीतिक प्रमुखता वाले दौरे में भारत में सहयोगी संघवाद का अस्तित्व था। केन्द्र और राज्यों में एक ही दल की सरकारें होने के कारण केन्द्र और राज्यों में तनाव कम ही पैदा होता था। जब केन्द्र में कांग्रेस दल की सरकार थी और कई राज्यों में कुछ अन्य राजनीतिक दलों की सरकारें काम कर रही थीं तो केन्द्र सरकार अनुच्छेद 356 का प्रयोग करके अन्य दलों की राज्य सरकारों को प्रायः भंग कर देती थी। परन्तु अब केन्द्र सरकार में कुछ क्षेत्रीय दलों की सहभागिता के कारण केन्द्र सरकार के लिए अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय दलों के बढ़ते राजनीतिक महत्त्व के परिणामस्वरूप केन्द्रवाद (Centralism) की प्रवृत्ति का विकास होना रुक गया है और अब राज्यों को अधिक शक्तियाँ और अधिक वित्तीय साधन देने की बात तोर पकड़ती जा रही है।

9. राजनीतिक अस्थिरता का विकास (Development of Political Instability) – क्षेत्रीय दलों की संख्या काफी अधिक होने के कारण किसी एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल के लिए लोकसभा में बहुमत प्राप्त करना कठिन समस्या बन गई है। इसी कारण भिन्न-भिन्न विचारधारा वाले क्षेत्रीय और राष्ट्रीय राजनीतिक दल चुनावी गठबन्धन के लिए विवश होते हैं। ऐसे असैद्धान्तिक गठबन्धन निश्चित तौर पर राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देते हैं।

10. भारतीय संसदीय प्रणाली के लिए चुनौती (Challenge for Indian Parliamentary System) – क्षेत्रीय दलों की बढ़ती संख्या के कारण पैदा हुई राजनीतिक अस्थिरता भारत की संसदीय शासन प्रणाली के लिए एक गम्भीर चुनौती बनती जा रही है। इस राजनीतिक अस्थिरता ने भारतीय संसदीय प्रणाली को कायम रहने के विषय में प्रश्न चिह्न पैदा कर दिया है। राजनीतिक अस्थिरता के माहौल में संसदीय शासन प्रणाली की कुशल कार्यशीलता सम्भव नहीं हो सकती है। भारत में राजनीतिक दलों की बढ़ती संख्या के कारण पैदा हुई राजनीतिक अस्थिरता ने ही भारत में संसदीय शासन प्रणाली के स्थान पर अध्यक्षतात्मक प्रणाली लागू करने की मांग को जन्म दिया है।

11. क्षेत्रवाद का बढ़ता प्रभाव (Increasing Influence of Regionalism) - क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने क्षेत्रवाद की राजनीति को काफी अधिक प्रेरित किया है। काफी क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का प्रभाव कुछ-क्षेत्र विशेष तक ही सीमित होता है। क्षेत्रीय दलों का मुख्य आधार ही किसी विशेष क्षेत्र के हितों की सुरक्षा और विकास को विश्वसनीय बनाना है। जब क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की सरकारों का निर्माण होता है तो उन राज्यों में ही वे दल अधिक सक्रिय होते हैं और और उन राज्यों के लोगों के हितों के विकास के लिए अधिक वचनबद्ध होते हैं। क्षेत्रीय दलों के ऐसे दृष्टिकोण ने क्षेत्रवाद की राजनीति को अधिक प्रेरित किया है और ऐसी राजनीति लोगों में राष्ट्रवादी भावना के पतन का महत्वपूर्ण कारण बनती है।

भारतीय दल प्रणाली के समक्ष आने वाली समस्याएं (PROBLEMS FACING THE INDIAN PARTY SYSTEM)

भारतीय दल प्रणाली को पेश आने वाली महत्वपूर्ण समस्याएं इस प्रकार हैं-

1. राजनीतिक दलों की बहुत अधिक संख्या (Too Many Political Parties) - हमारे देश में वर्तमान सभा में 8 राष्ट्रीय राजनीतिक दलों और 52 राज्य स्तर के राजनीतिक दलों को चुनाव आयोग की मान्यता प्रदान की हुई है। इन मान्यता प्राप्त दलों के अतिरिक्त लगभग 2700 से अधिक ऐसे राजनीतिक दल थे जिन्होंने चुनाव आयोग के पास अपना पंजीकरण करवाया था, परन्तु उन्हें चुनाव आयोग की मान्यता प्राप्त नहीं थी। राजनीतिक दलों की बहुत अधिक संख्या राजनीतिक अस्थिरता, दल परिवर्तन, राजनीतिक दलों के असैद्धान्तिक मिश्रण, भ्रष्टाचार और राजनीतिक अविश्वास को जन्म देती है।

2. सैद्धान्तिक एवं संगठित विपक्षी दल का अभाव (Lack of Principled and Ideological Opposition)-भारत में राजनीतिक दलों की संख्या अत्यधिक होने के कारण अनेकों ही राजनीतिक दल विपक्षी दलों की भूमिका निभाते हैं। सरकारी रूप में चाहे एक ही राजनीतिक दल को विपक्षी दल के रूप में मान्यता दी जाती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में अनेकों ही राजनीतिक दल विपक्षी स्थानों पर बैठते हैं। विरोधी राजनीतिक दलों में कोई सैद्धान्तिक आधार न होने के कारण हमारे देश में सैद्धान्तिक रूप में संगठित विरोधी दल का विकास नहीं हुआ।

3. संगठन की समस्या (Problem of Organization) - भारत में राजनीतिक दलों की सबसे गम्भीर समस्या संगठन का अभाव है। यह समस्या एक-दो दलों की नहीं, बल्कि अधिकांश दलों की है। क्षेत्रीय दलों के पास तो नाम भर का संगठन है। भारत में राजनीतिक दलों के संगठनों के चुनाव नहीं होते हैं और यदि होते भी हैं, तो केवल दिखावे भर के लिए। कांग्रेस पार्टी सबसे पुराना एवं संगठित दल माना जाता है, किन्तु कई बार विघटन के कारण इसका अब वह रूप नहीं रहा है।

4. दल-बदल की समस्या (Problem of Defection)- भारत की दलीय प्रणाली एक और समस्या से घिरी है और वह समस्या है-दल-बदल। यहाँ दल-बदल ने राजनीतिक अस्थिरता एवं नैतिकता-विहीन राजनीति को जन्म दिया है। पश्चिम के लोकतांत्रिक देशों में भी दल-बदल होता है, लेकिन वहाँ यह सिद्धांतों एवं आदर्शों पर आधारित होता है। इसके विपरीत, भारत में दल-बदल विशुद्ध रूप से सत्ता की प्राप्ति के लिए किया जाता है। भारत में एक-दो दलों के अलावा, शेष दलों में कोई वैचारिक मतभेद नहीं है, इसलिए यहाँ नेता लोग जल्दी-जल्दी दलीय निष्ठाएँ बदलते रहते हैं।

5. जनाधार की समस्या (Problem of Popular Base)- जन समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रत्येक राजनीतिक दल के पास जनाधार होना चाहिए। भारत में कुछ दलों को छोड़कर बाकी दलों के पास जनाधार नहीं है। कुछ समय पहले तक कांग्रेस पार्टी ही ऐसा दल था, जिसे देश के सभी क्षेत्रों और समाज के सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त था। लेकिन 16वीं लोक सभा के चुनावों के परिणामों ने यह सिद्ध कर दिया था कि यह दल अपना जनाधार गवाँ बैठा है। जहाँ तक भारतीय जनता पार्टी का प्रश्न है। इसका जनाधार घटता बढ़ता रहता है। वर्तमान में इसमें अनेक अवसरवादी लोग शामिल हैं। कर्नाटक को छोड़कर, इस दल का दक्षिण के दूसरे राज्यों में जनाधार नहीं है।

6. नेतृत्व की समस्या (Problem of Leadership) - भारत के अधिकांश राजनीतिक दल नेतृत्व के संकट से जूझ रहे हैं, क्योंकि इनके नेता अवसरवादी एवं संकुचित दृष्टिकोण वाले हैं। कांग्रेस पार्टी के पास कुशल एवं प्रभावी नेतृत्व नहीं है, तो

भारतीय जनता पार्टी अपने वरिष्ठ नेताओं की अनदेखी करते हुए एक-दो व्यक्ति में केन्द्रित हो गयी प्रतीत होती है। क्षेत्रीय दल, जैसा कि इनके नाम से स्पष्ट है, क्षेत्रीय नेताओं की जागीरें बन गए हैं।

7. गुटबाजी की समस्या (Problem of Factionalism)- भारत के लगभग सभी राष्ट्रीय दल गुटबाजी/गुटबन्दी के शिकार हैं, जिनके कारण इनका कभी विघटन, तो कभी विलय चलता रहता है। इसी गुटबाजी के चलते कांग्रेस पार्टी का कम-से-कम दो बार विघटन हो चुका है। 1977 में निर्मित जनता पार्टी तो जन्म से ही गुटबाजी की शिकार थी। भारतीय जनता पार्टी भी एक समय दो गुटों में विभाजित थी वाजपेयी गुट एवं आडवाणी गुट। 16वीं लोक सभा के चुनावों के ठीक पहले इसकी गुटबाजी सतह पर आ गयी थी। गुटबाजी के कारण 1964 में भारतीय साम्यवादी दल का विभाजन हुआ था। राष्ट्रीय दलों में गुटबाजी स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक देखी जा सकती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, जनता दल (यू) और शिव सेना जैसे क्षेत्रीय दल भी गुटबाजी का शिकार हैं।

8. धन की समस्या (Problem of Money)- भारत में लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं के आम चुनावों के अलावा, मध्यावधि चुनाव एवं उप-चुनाव भी होते रहते हैं। इन चुनावों में राजनीतिक दलों को धन की आवश्यकता होती है। यहाँ उस दल के जीतने की अधिक सम्भावनाएँ होती हैं, जिसके पास पर्याप्त मात्रा में धन होता है। इसीलिए चुनावों में खुलकर धन खर्च करना और सत्तारूढ़ होने पर अनुचित साधनों से धन इकट्ठा करना राजनीतिक दलों की एक आम विशेषता बन चुकी है।

9. सिद्धान्तहीन समझौते (Un-Principled Alliances) – भारत में सिद्धान्तहीन समझौते करने में राजनीतिक दलों में एक-दूसरे को पीछे छोड़ने की दौड़ लगी हुई है। यहाँ सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिक दल अपने घोर विरोधी दलों से भी समझौते कर सकते हैं। 12वीं लोक सभा में ऑल इण्डिया अन्ना डी.एम.के. के समर्थन वापस लिए जाने के कारण वाजपेयी सरकार का पतन हो गया था, किन्तु 14वीं लोक सभा के चुनाव राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन एवं ऑल इण्डिया अन्ना डी.एम.के. ने साथ-साथ लड़े थे। अक्टूबर, 2014 में महाराष्ट्र विधान सभा के चुनावों के पहले 25 वर्षों से चला आ रहा भाजपा एवं शिव सेना का गठबन्धन टूट गया था और दोनों ने एक-दूसरे के विरुद्ध चुनाव लड़ा था, लेकिन सरकार बनाने के लिए दोनों ने एक-दूसरे से हाथ मिला लिया। 2019 के विधान सभा चुनावों के बाद यह गठबन्धन टूट गया और शिव सेना ने कांग्रेस पार्टी एवं राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी के साथ मिलकर सरकार बनायी।

10. राजनीतिक दलों का अपराधीकरण (Criminalization of Political Parties)- हाल के वर्षों में प्रायः सभी दलों में अपराधी लोग घुस आए हैं, जिससे दलों की विश्वसनीयता को खतरा उत्पन्न हो गया है। इस मामले में उत्तर प्रदेश एवं बिहार सबसे आगे हैं। उल्लेखनीय है कि 14वीं लोक सभा में 128 सांसद आपराधिक पृष्ठभूमि वाले थे, तो 15वीं लोक सभा में 153 सांसद। 16वीं लोक सभा भी इस मामले में पीछे नहीं रही। इसमें 186 सांसदों के विरुद्ध विभिन्न न्यायालयों में मामले लम्बित थे।

11. संकुचित मानसिकता (Narrow-mindedness)- वैसे तो स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भी कई राजनीतिक दलों का निर्माण धर्म, जाति, सम्प्रदाय अथवा क्षेत्र के आधार पर हुआ था, किन्तु तब ऐसा ब्रिटिश सरकार की नीतियों के कारण होता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनीतिक दलों की स्थापना धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र के आधार पर होना कम ही नहीं, बल्कि इसमें वृद्धि हुई है। इस तरह के राजनीतिक दल चुनावों में मतदाताओं के मत बटोरने के लिए संकीर्ण मुद्दे उछालते रहते हैं।

विरोधी दलों की भूमिका

भारत में विपक्षी दल अग्रलिखित तरह की भूमिका का निर्वाह करता है-

1. विपक्षी दल का बहु-दलीय स्वरूप (Multi-Party Character of the Opposition)- हमारे देश की संसद में विरोधी दल का बहु-दलीय स्वरूप है। संसद के दोनों सदन में सरकारी तौर पर चाहे एक ही राजनीतिक दल को विरोधी दल के रूप में मान्यता दी जाती है, किन्तु वास्तव में अनेक राजनीतिक दल विपक्षी दलों के रूप में कार्य करते हैं। इस तरह की स्थिति भारतीय लोकतन्त्र को कमजोर करती है। संसद में बहु-पक्षीय विपक्षी दल होने के कारण न तो जनता की इच्छा का सही

प्रतिनिधित्व होता है और न ही शासक दल का कोई विकल्प (Alternative) उपलब्ध होता है। इसी कारण भारत में एक दल नहीं, बल्कि अनेक दल विपक्ष दल के रूप में कार्य करते हैं। मिली-जुली सरकारों के आने से यह स्वरूप और बढ़ गया है।

2. सरकार से सहयोग (Co-operation with Government)- यदि किसी विपक्षी दल सरकार से असहयोग करें तो सरकार का कुशलतापूर्वक संचालन असम्भव हो सकता है। यह ठीक है कि शासक दल तथा विपक्षी दलों की राजनीतिक विचारधाराएं परस्पर विरोधी हो सकती हैं, परन्तु राष्ट्रीय विषयों के प्रति राजनीतिक दलों के दृष्टिकोणों में सामंजस्य होना अनिवार्य है। शासक दल का यह राष्ट्रीय कर्तव्य है कि वह सरकार के संचालन के विषय में समय-समय पर विपक्षी दलों के साथ विचार-विमर्श करे तथा महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं के विषय में उसका सहयोग प्राप्त करें। विपक्षी दलों का भी यह राष्ट्रीय कर्तव्य है कि वे सरकार के साथ रचनात्मक सहयोग करें तथा महत्त्वपूर्ण विषयों के प्रति अपनी सम्पत्ति सरकार को समय-समय पर देते रहें।

3. आलोचना (Criticism)- विपक्षी दलों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य सरकार की नीतियों तथा कार्यों की सकारात्मक आलोचना (Positive Criticism) करना है। यह अनिवार्य नहीं कि प्रत्येक विषय के प्रति शासक दल की सम्मति अथवा नीति उचित हो। विपक्षी दलों को प्रत्येक विषय के प्रति अपनी नीति सरकार को स्पष्ट रूप में बतानी चाहिए। यदि सरकार विपक्षी दल की आवाज को कोई महत्त्व नहीं देती तो विरोधी दलों को संवैधानिक साधनों के द्वारा शासक दल की नीतियों के विरुद्ध जनमत को विकसित करना चाहिए।

4. लोकमत का निर्माण (Formulation of Public Opinion)- प्रतिनिधि लोकतन्त्र में समय-समय पर चुनाव होते हैं। इन चुनावों में प्रत्येक राजनीतिक दल की सफलता अथवा असफलता उसके पक्ष अथवा विपक्ष में स्थापित लोकमत पर निर्भर करती है। इसलिए अपने पक्ष में लोकमत का निर्माण करना प्रत्येक राजनीतिक दल का अनिवार्य कार्य है। परन्तु शासक दल के अवगुणों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत करके अपने पक्ष में जनमत का निर्माण करना विपक्षी दलों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। यदि विपक्षी दल अपने इस कार्य की पूर्ति नहीं करते तो शासक दल की प्रमुखता स्थिर रहेगी तथा विपक्षी दलों की अवहेलना के कारण यह प्रभुत्व किसी समय शासक दल के अधिनायकतन्त्र का रूप धारण कर सकता है।

5. जन-शिकायतों की अभिव्यक्ति (Ventilation of Public Grievances)- विपक्षी दलों का यह महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है कि वे लोगों की शिकायतों को संवैधानिक साधनों के द्वारा सरकार तक पहुंचाए। विधानमण्डल में भी विपक्षी दल जन-शिकायतों तथा कठिनाइयों को अभिव्यक्त कर सकते हैं। यदि विपक्षी दल जागृत हों तो महत्त्वपूर्ण जन शिकायतों को विधान-मण्डल के सामान्य वाद-विवाद का विषय भी बनाया जा सकता है। यदि विपक्षी दल जन शिकायतों को सरकार तक पहुंचाने का अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं करते तो लोगों में असन्तोष उत्पन्न हो सकता है तथा वे अपनी शिकायतों को दूर कराने के लिए आन्दोलन के मार्ग पर चलने के लिए विवश हो सकते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)- भारत जैसी लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में विपक्षी दलों की भूमिका का क्षेत्र कठोर रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि किसी भी लोकतन्त्र को सफल बनाना विपक्षी दलों की कार्यशील भूमिका पर ही निर्भर करता है। जहां प्रभावशाली विपक्षी दलों का अभाव है, वहां वास्तव में लोकतन्त्र नहीं हो सकता।

हित एवं दबाव समूह

दबाव-समूह की परिभाषा (DEFINITION OF PRESSURE GROUP)

कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएं इस प्रकार हैं-

मि० डिल्लन के अनुसार, "साधारण शब्दों में हित-समूह ऐसे लोगों का एक समुदाय है जिनमें परस्पर हितों की समानता है। ऐसे हित-समूह उस समय दबाव समूह का रूप धारण कर लेते हैं जब वे अपने लाभों की प्राप्ति के लिए सरकारी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"

हिचनर और हार्वेड के अनुसार, "दबाव समूह के शब्द ऐसे व्यक्तियों के समूह को बताने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं, जिनके कुछ संयुक्त उद्देश्य हैं और जो राजनीतिक कार्यों द्वारा सार्वजनिक नीति को प्रभावित करके उन उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। साधारण रूप से हित समूह वह है, जो सरकार से कुछ प्राप्त करना चाहता है।"

आलमण्ड और पावेल के अनुसार, "हित समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो किसी विशेष हित अथवा लाभ के लिए परस्पर मिले हुए हों और जिनमें हितों के सम्बन्ध में चेतना है।"¹

बी० एम० चैटांगी के अनुसार, "दबाव समूहों को उन लोगों का औपचारिक संगठन कहा जा सकता है जिनके एक या एक से अधिक हित होते हैं और जो अपने हितों की रक्षा या विकास के लिए घटित हुई घटनाओं को विशेष करके सरकार द्वारा जनहित नीति के निर्माण और उसके कार्यान्वित को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।"³

संक्षिप्त रूप में हम कह सकते हैं कि दबाव समूह ऐसी प्राइवेट (निजी) संस्थाएं हैं जो अपने हितों की रक्षा और उन्नति के लिए सार्वजनिक नीति को अनेक साधनों द्वारा प्रभावित करती है। ऐसे समूहों का मुख्य उद्देश्य सरकारी नीतियों को प्रभावित करके अपने हितों की रक्षा करना होता है।

दबाव समूह की विशेषताएं (CHARACTERISTICS OR FEATURES OF PRESSURE GROUPS)

उपर्युक्त दबाव समूह की परिभाषाओं के आधार पर हम इसकी विशेषताओं का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन कर सकते हैं-

1. समान हित (Common Interest) - किसी विशेष समान हित का अस्तित्व दबाव समूह का मूल आधार है। समान हित ही व्यक्तियों को समूह के रूप में संगठित होने की प्रेरणा देते हैं और समान हित की रक्षा और उन्नति के लिए ही व्यक्तियों का समूह सरकारी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। यह प्रसिद्ध कहावत है कि एक जैसे पंखों वाले पक्षी एक साथ उड़ते हैं। इस प्रकार परस्पर समान हितों वाले लोग सामूहिक रूप से संगठित होकर अपने हितों की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। विशेष समान हित के अतिरिक्त कोई विशेष सार्वजनिक उद्देश्य भी दबाव समूह का आधार हो सकता है। ऐसा समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनों द्वारा सरकार पर दबाव डाल सकता है।

2. गैर-राजनीतिक स्वरूप (Non-political Character) - दबाव समूह राजनीतिक स्वरूप के नहीं होते। वे देश की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते। साधारण चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते। ऐसी बातें दबाव समूह के गैर-राजनीतिक स्वरूप को व्यक्त करती हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दबाव समूह देश की राजनीति में कोई रुचि नहीं रखते। अपने हितों की रक्षा और उन्नति के लिए देश की राजनीति में रुचि रखना दबाव समूहों के लिए अति आवश्यक है। वे अक्सर उस राजनीतिक दल से सौदेबाजी करते हैं और उस दल के प्रत्याशियों का समर्थन करते हैं जो उनके हितों की रक्षा करने का वचन देता है।

3. संगठन (Organisation) - दबाव समूह विशेष रूप से संगठित किए जाते हैं ताकि वे अपने हितों की रक्षा के लिए उचित साधनों द्वारा सरकार की नीतियों को प्रभावित कर सकें। बड़े-बड़े दबाव समूहों के प्रतिनिधि देश की राजधानी में मौजूद होते हैं और वे मन्त्रियों, विधायकों और सरकारी उच्चाधिकारियों से सम्पर्क बनाए रखते हैं। इस सम्पर्क द्वारा ही उनको सरकारी नीतियों के भेद प्राप्त होते हैं और वे सरकार से राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं। बिना संगठन के किसी दबाव समूह के लिए अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना बहुत कठिन है।

4. संवैधानिक मान्यता-रहित संगठन (Extra-Constitutional Agencies) - दबाव समूहों का अस्तित्व कोई संवैधानिक व्यवस्था नहीं है, अपितु यह संवैधानिक मान्यता से वंचित संगठन है। औद्योगिक देशों में दबाव-समूहों का अस्तित्व अधिक होता है क्योंकि विभिन्न उद्योगों के स्वामी अपने व्यवसाय के विस्तार के लिए सरकार का संरक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। दबाव समूहों को यद्यपि संवैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं होती, परन्तु देश की संवैधानिक प्रणाली की कार्य-कुशलता पर उनके

कार्यों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

भारत में दबाव समूह

विशिष्ट व्यावसायिक दबाव समूह (Special Occupational Pressure Groups) - इस प्रकार के दबाव समूहों में निम्नलिखित दबाव समूह सम्मिलित किए जाते हैं-

1. संगठित व्यापारिक दबाव समूह (Organised Business Pressure Groups) - हमारे देश में उद्योग एवं व्यापार कुछ एक परिवारों के पास केन्द्रित होकर रह गया है। उदाहरणार्थ अंबानी, टाटा, बिरला, डालमिया, गोइनका, थापर आदि कुछ ऐसे परिवार हैं जिन्होंने भारतीय उद्योग पर अधिकार किया हुआ है।

हमारे देश में कुछ औद्योगिक संस्थाएं जैसे कि **ओरिएण्टल वाणिज्य संघ (Oriental Chamber of Commerce)**, **राष्ट्रीय वाणिज्य संघ (National Chamber of Commerce)**, **भारतीय वाणिज्य संघ (Indian Chamber of Commerce)** हैं। ये सभी औद्योगिक संस्थाएं एक प्रकार के दबाव समूह ही हैं जो अनेक साधनों के द्वारा सरकार की नीतियों पर दबाव डालते हैं। अखिल भारतीय उत्पादक संगठन (All Indian Manufactures Organisation) एवं संयुक्त वाणिज्य संघ (Associated Chamber of Commerce) के नाम विशेषतया वर्णनीय है।

2. **व्यापारिक संघ (Trade Unions)**-1920 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधीन अखिल भारतीय व्यापारिक संघों की कांग्रेस (All India Trade Union Congress) स्थापित हुई है। व्यापारिक संघ के रूप में भारत में स्थापित होने वाला यह प्रथम दबाव समूह था। 1948 में भारतीय राष्ट्रीय व्यापारिक संघ कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress) स्थापित की गई थी। इसके अतिरिक्त हिन्द मजदूर सभा (Hind Mazdoor Sabha), संघ व्यापारिक संघ कांग्रेस (United Trade Union Congress), हिन्द मजदूर परिषद् (Hind Mazdoor Parishad) आदि ऐसे संगठन हैं जो दबाव समूह के रूप में भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

3. **कृषक संगठन (Peasants Organisation)** - भारत मुख्यतया कृषि प्रधान देश है। कृषि के प्रति सरकार की नीतियां देश की अत्यधिक जनसंख्या को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। कृषकों ने अपने हितों की रक्षा के लिए अनेक संगठनों का निर्माण किया है। ऐसे कुछ महत्वपूर्ण कृषक संगठन इस प्रकार हैं-

(a) अखिल भारतीय किसान सभा (All India Kisan Sabha) भारतीय किसान संघ (गुजरात)

(b) हिन्द किसान पंचायत (Hind Kisan Panchayat)

(c) संयुक्त किसान सभा (United Kisan Sabha)

(d) क्रान्तिकारी किसान सम्मेलन (Revolutionary Peasants Convention)

(e) श्रमिकों एवं कृषकों का दल (Workers and Peasants Party)

4. **पेशेवर दबाव समूह (Professional Pressure Groups)** - पेशेवर दबाव समूहों से अभिप्राय ऐसे समूहों से है जो विशेषकर किसी एक पेशे या धन्धे के साथ सम्बन्धित हैं। व्यापारिक संघों के विपरीत ऐसे समूहों का उद्देश्य अपने पेशों की, आर्थिक हितों की न केवल सुरक्षा करना होता है, अपितु यह समूह अपने पेशे के मुख्य उद्देश्यों अभिप्राय अपने धन्धे की भलाई के लिए भी कार्य करते हैं। ऐसे दबाव समूहों में निम्नलिखित संघ या संस्थाएं शामिल की जा सकती हैं-

(a) अखिल भारतीय कर्मचारी संघ (All India Federation of Employees)

- (b) अखिल भारतीय डॉक्टरी संघ (All India Medical Association)
- (c) अखिल भारतीय डाक और तार कर्मचारी संघ (All India Postal and Telegraph Workers Union)
- (d) अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ (All India Banks Employees Association)
- (e) अखिल भारतीय विश्वविद्यालय और कॉलेज प्राध्यापक संघ (All India Federation of University and College Teachers)
- (f) अखिल भारतीय वकील संघ (All India Bar Association)
- (g) हरियाणा अनुसूचित जाति राजकीय अध्यापक संघ (Haryana Anusuchit Jati Rajkiya Adhiyapak Sangh)

5. धार्मिक एवं जाति दबाव-समूह (Religious and Caste Pressure Groups) - भारत एक ऐसा देश है जहां विभिन्न धर्मों एवं जातियों के लोग रहते हैं। उनके धार्मिक एवं जाति-हितों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक एवं जातीय समूह विद्यमान हैं। कुछ संगठनों के नाम इस प्रकार हैं-

- (a) ऐंग्लो-इण्डियन ईसाई संघ (Anglo-Indian Christian Association)
- (b) कैथोलिक संघ (Catholic Association)
- (c) जमात-ए-इस्लामी (Jamat-e-Islami)
- (d) अनुसूचित जातियों का संघ (Scheduled Castes Federation)
- (e) वनायकूल क्षत्रिय संघ (Vanuiyakul Kashastriya Sangh)

इसके अतिरिक्त कबायली प्रदेशों में मिलते निम्नलिखित संगठन भी भारतीय राजनीति में और विशेषतया सम्बद्ध प्रान्त की राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं-

- (a) बिहार और उड़ीसा में अखिल भारतीय झारखण्ड (All India Jharkhand in Bihar and Orissa)
- (b) नागा राष्ट्रीय परिषद् (Naga National Council)।
- (c) असम का कबायली संघ (Tribal Sangh of Assam)
- (d) असम का कबायली संगठन (Tribal League of Assam)
- (e) संयुक्त मिजो संघात्मक संगठन (United Mizo Federal Organisation)
- (f) खासी जैन्तिया ग्रामीण संगठन (Khasi Jaintia Rural Organisation)
- (g) खासी जैन्तिया राष्ट्रीय संयुक्त राज्य कांफ्रेंस (Khasi Jaintia National Federated State Conference)
- (h) पूर्व भारतीय कबायली संघ (Eastern Indian Tribal Union)

6. भाषीय दबाव समूह (Linguistic Pressure Groups)- भारत एक ऐसा देश है जहां सैकड़ों भाषाएं बोली जाती हैं। 22 भाषाओं को संविधान के द्वारा मान्यता दी गई है और हिन्दी की देवनागरी लिपि को राष्ट्रीय भाषा घोषित किया गया है। अपनी भाषा की रक्षा एवं विकास के लिए भाषायी समूह सरकार की नीतियों पर दबाव डालने का प्रयत्न करता है। ऐसे कुछ भाषायी

संगठन इस प्रकार हैं-

- (i) आन्ध्र महासभा (Andhra Mahasabha)
- (ii) तमिल संघ (Tamil Sangh)
- (iii) गोरखा संघ (Gorkha League)
- (iv) नागा विदर्भ आन्दोलन समिति (Naga Vidarbha Andolan Samiti)

7. विद्यार्थी दबाव समूह (Students Pressure Groups)- युवक प्रत्येक देश की महान् शक्ति होते हैं। यद्यपि इस बात का शक्तिशाली प्रचार किया जाता है कि विद्यार्थियों को राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए, परन्तु भारत में कोई भी ऐसा राजनीतिक दल नहीं है जिसने विद्यार्थियों को अपने पक्ष में करने कोई संगठन स्थापित न किया हो। विद्यार्थियों के कुछ संगठन इस प्रकार हैं-

- (a) भारतीय विद्यार्थी राष्ट्रीय संघ (National Students Union of India)
- (b) विद्यार्थी संघ (Students Federation)
- (c) अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् (Akhil Bhartiya Vidyarthi Parishad)
- (d) प्रगतिशील विद्यार्थी संगठन (Progressive Students Union)
- (e) समाजवादी विद्यार्थी संगठन (Socialist Students Organisation)
- (f) समाजवादी युवजन सभा (Smajwadi Yuvjan Sabha)
- (g) अखिल भारतीय सिक्ख विद्यार्थी संघ (All India Sikh Students Federation)

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों के और भी कुछ संगठन हैं जो भारतीय राजनीति में थोड़ी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

8. गांधीवादी विचारधारा पर आधारित समूह (Groups based on Gandhian Ideology) - महात्मा गांधी को भारतीय राष्ट्रवादी होने का सम्मान प्राप्त है। गांधी जी के अपने कुछ राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विचार थे जिन्हें वे स्वतन्त्र भारत में कार्यान्वित करना चाहते थे, परन्तु स्वतन्त्रता के तत्काल पश्चात् ही स्वर्गवास हो जाने के कारण वे अपने सपनों को साकार न कर सके। परन्तु भारत में कई ऐसे समूह स्थापित हुए हैं जो गांधीवादी सिद्धान्तों को लागू करवाने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। गांधीवाद पर आधारित दबाव समूह इस प्रकार हैं -

- (a) भूदान आन्दोलन (Bhoodan Andolan)
- (b) सर्व-सेवा संघ (Sarv-Sewa Sangh)
- (c) ग्रामीण औद्योगिक संघ (Village Industrial Association)

उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के दबाव समूहों के अतिरिक्त प्रान्तीय स्तर पर भी कुछ दबाव समूह विद्यमान हैं जो प्रान्तीय राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

दबाव समूहों के साधन (Means of Pressure Groups)

भारत में दबाव समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित साधनों का प्रयोग करते हैं-

1. प्रचार (Propaganda) - दबाव समूह जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए प्रचार करते हैं। ये अपनी मासिक, पाक्षिक,

साप्ताहिक एवं दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करते हैं और इनके माध्यम से जनमत को अपने पक्ष में करके सरकार से अपने हितों के अनुकूल नीतियाँ बनवाने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन करके अपने सदस्यों में चेतना उत्पन्न करते हैं। इन सम्मेलनों में विभिन्न स्तरों की इकाइयों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं और अपने संगठन को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए अपने सुझाव देते हैं। इसके अतिरिक्त, ये समय-समय पर सभाओं का आयोजन करके जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं।

2. चुनावों में भागीदारी (Participation in Elections) - यद्यपि दबाव समूह प्रत्यक्ष रूप से चुनावों में भाग नहीं लेते हैं। फिर भी ये चुनाव में ऐसे राजनीतिक दलों अथवा उम्मीदवारों का समर्थन करते हैं, जो इनके विचारों से सहमत हों और इनके हितों की पूर्ति का आश्वासन देते हों। ये राजनीतिक दलों अथवा उम्मीदवारों को आर्थिक सहायता देते हैं और इन्हें चुनाव प्रचार के लिए अपने कार्यकर्ता भी उपलब्ध कराते हैं।

3. लॉबीइंग (Lobbying) - 'लॉबीइंग' शब्द अमेरिका से लिया गया है। वहाँ राजनीतिक जीवन में 'लॉबीइंग' एक संस्था बन चुकी है। दबाव समूहों द्वारा विधानमण्डल के सदस्यों को किसी विधेयक के पक्ष अथवा विपक्ष में मत देने के लिए राजी करने के कार्य को 'लॉबीइंग' के नाम से जाना जाता है। दबाव समूह अपने वैतनिक प्रतिनिधियों द्वारा लॉबीइंग का कार्य करते हैं। ये 'लॉबीइस्ट्स' विधानमण्डल के सदस्यों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करते हैं और उन्हें किन्हीं विशेष विधेयकों का समर्थन अथवा विरोध करने के लिए राजी करने का प्रयत्न करते हैं। ये लॉबीइस्ट्स विधायकों को प्रभावित करने के लिए उचित अनुचित सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं।

4. हड़ताल एवं प्रदर्शन (Strike and Demonstration) - दबाव समूह सरकार से अपनी माँगे मनवाने के लिए समय-समय पर प्रदर्शनों एवं हड़तालों का आयोजन करते रहते हैं। ये समूह हड़ताल एवं प्रदर्शन द्वारा सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि जनमत इनके पक्ष में रहे और सरकार भी इनके पक्ष में नीतियाँ बनाएँ। ऐसा करने पर दबाव समूह कुछ सीमा तक अपने उद्देश्य में सफल भी हो जाते हैं।

5. जनता के साथ सम्पर्क (Contact with Masses) - दबाव समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं। ये जनता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करते हैं और किसी विधेयक का समर्थन अथवा विरोध करने के लिए उसे उकसाते हैं। ये कभी-कभी जनता के दृष्टिकोण को अपने अनुकूल करने के लिए धन भी खर्च करते हैं। ये अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जनता के दृष्टिकोण को अपने अनुकूल बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं।

6. न्यायालयों का सहारा (Seeking Intervention of Courts) - दबाव समूह किसी ऐसे अधिनियम या आदेश,

जो उनके हितों पर आघात करने वाला हो, को लागू होने से रोकने के लिए न्यायालयों का सहारा भी लेते हैं। उदाहरण के लिए जब 1969 में केन्द्र सरकार ने कुछ निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया था, तो उन दबाव समूहों, जिनके हितों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ना था, ने सरकार के इस कदम का विरोध किया था और सर्वोच्च न्यायालय में सरकार के इस निर्णय को चुनौती दी थी।

दबाव समूहों के कार्य (FUNCTIONS OF PRESSURE GROUPS)

दबाव समूहों के कार्यों को मुख्य रूप से हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन कर सकते हैं-

1. सदस्यों के हितों की रक्षा और विकास (Protection and Promotion of the Interests of Members)- प्रत्येक प्रकार के दबाव समूह का मुख्य उद्देश्य अपने वर्ग के हितों की रक्षा और विकास करना होता है। संयुक्त उद्देश्य एक ही वर्ग या श्रेणी के सदस्यों को दबाव समूह के रूप में एकत्र अथवा संगठित होने का मुख्य आधार होता है। यदि कोई संयुक्त हित न हो तो लोगों के किसी संगठन को हित समूह की संज्ञा नहीं दी जा सकती। जहाँ तक दबाव समूह के कार्यों का सम्बन्ध है, इस विषय में हम यह कह सकते हैं कि जिस संयुक्त हित अथवा हितों को मुख्य रख कर दबाव समूह का निर्माण किया गया है उस संयुक्त

हित अथवा हितों की रक्षा और विकास की प्राप्ति करना ही प्रत्येक दबाव समूह का एकमात्र उद्देश्य है। यहां यह वर्णनीय है कि प्रत्येक दबाव समूह अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति सरकारी नीतियों और निर्णयों को अपने पक्ष में प्रभावित करने से ही कर सकता है।

2. जन-नीतियों तथा कानूनों के निर्माण को प्रभावित करना (To influence the making of Public Policies and Laws)- अपने सदस्यों के हितों की सुरक्षा के लिए प्रत्येक प्रकार के दबाव समूह के लिए यह अनिवार्य है कि वह सरकार के द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों को अपने हितों के लिये प्रभावित करें। इस उद्देश्य के लिए दबाव समूह सरकार पर विभिन्न विधियों द्वारा दबाव डालने का प्रयत्न करते हैं। जननीतियों तथा कानूनों के निर्माण में दबाव समूह प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते, किन्तु दबाव समूह जनसभाओं, प्रदर्शनी तथा बातचीत के द्वारा सरकार की नीतियों तथा कानूनों के निर्माण को अपने हितों की सुरक्षा के लिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

3. राजनीतिक दलों को अपने प्रभावाधीन रखना (To keep the Political Parties under their Influence)-दबाव समूह सरकारी नीतियों को प्रभावित करने के लिए राजनीतिक दलों को अपने प्रभावाधीन रखने का प्रयत्न करते हैं। इस उद्देश्य के लिए वे राजनीतिक दलों को गुप्त रूप से पर्याप्त मात्रा में चन्दा देते हैं और चुनाव के समय राजनीतिक दलों के माध्यम से अपने प्रत्याक्षी भी खड़े करते हैं। राजनीतिक दलों को धन की बहुत आवश्यकता होती है। इस कारण वे बड़े-बड़े उद्योगपतियों, व्यापारियों आदि से सहायता प्राप्त करते हैं। ऐसी सहायता के बदले में राजनीतिक दल वर्गीय दबाव समूहों को यथासम्भव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रयत्नों द्वारा सरकार का संरक्षण (Patronage) प्रदान करते हैं।

4. प्रचार करना (To make Propaganda) - दबाव समूहों (Cause Groups) को जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपने उद्देश्य का प्रचार करने की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य के लिए वह आन्दोलन भी चलाते हैं ताकि जनमत को प्रभावित किया जा सके।

5. परामर्शदायी कार्य (Consultative Functions)- दबाव समूह अपने-अपने क्षेत्र के विषय में सरकार को नीति का निर्माण करने के समय परामर्श देते हैं। सरकार के भिन्न-भिन्न विभाग सम्बद्ध दबाव समूहों से उनके व्यवसायों के विषय में आवश्यक सूचना प्राप्त करते हैं और दबाव समूहों के प्रतिनिधि सरकार को नई ग्रहण की जा रही नीति के विषय में या तो प्रोत्साहित करते हैं अथवा उसके दुष्परिणामों के विषय में ये सरकार को चेतावनी देते हैं।

6. संसदीय समितियों के समक्ष प्रस्तुत होना (To appear before the Parliamentary Committees)- जब संसद् कानूनों का निर्माण करती है तो कई बार विधेयकों को सम्बन्धित विषय की समिति के पास निरीक्षण के लिए भेजा जाता है। विधानमण्डल अथवा संसद् की ऐसी समितियां विधेयकों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस विधेयक से प्रभावित होने वाले दबाव समूहों को अपने समक्ष प्रस्तुत होने के लिए कहती हैं। दबाव समूह अपने हितों की सुरक्षा के लिए अपनी ऐसी समितियों के समक्ष प्रस्तुत होने के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। लोकतन्त्रीय देशों में लोगों को यह अधिकार प्राप्त होता है कि किसी विधेयक से प्रभावित होने वाले व्यक्ति अपना दृष्टिकोण विधानमण्डल अथवा संसदीय समिति के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रकार दबाव समूह संसदीय समितियों के समक्ष प्रस्तुत होने पर अपना दृष्टिकोण बताने का भी महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

7. प्रतियोगिताओं (चर्चाओं) का प्रबन्ध करना (To Organise Discussions) - बड़े-बड़े दबाव समूह समय-समय पर विषयों के विशेषज्ञों की प्रतियोगिताओं या चर्चाओं का प्रबन्ध करते हैं। इन प्रतियोगिताओं में सरकारी अधिकारियों को भी निमन्त्रित किया जाता है। इस विचार-विमर्श के द्वारा सरकार को विशेषज्ञों तथा सम्बन्धित दबाव समूह के विचार का तथा दबाव समूह को सरकार के विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है।

निष्कर्ष (Conclusion) - दबाव समूहों के कार्यों के विषय में यह कहना ही उचित होगा कि प्रत्येक प्रकार के दबाव समूह के कार्य एक समान नहीं होते, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि प्रत्येक प्रकार के दबाव समूह का कार्य अपने मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति करना होता है और इस उद्देश्य के लिए प्रत्येक प्रकार का दबाव समूह आवश्यक साधनों का प्रयोग करता है।

जनमत(Public Opinion)

जनमत का अर्थ :

जनमत से तात्पर्य आम जनता या समाज के किसी विशिष्ट समूह के लोगों द्वारा सार्वजनिक हित के मुद्दों, राजनीतिक मामलों, सामाजिक विषयों या सरकारी कार्रवाइयों के बारे में रखे गए सामूहिक विचारों, दृष्टिकोणों, विश्वासों और भावनाओं से है। यह लोकतांत्रिक शासन को आकार देने, नीति निर्धारण को प्रभावित करने और लोगों की सामान्य मनोदशा या इच्छा को प्रतिबिंबित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

लोकतंत्र में जनमत का महत्व (

लोकतंत्र में जनमत (Public Opinion) एक मूल स्तंभ के रूप में कार्य करता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्ता का मूल स्रोत जनता होती है और जनमत जनता के सामूहिक विचारों, भावनाओं, विश्वासों और दृष्टिकोणों को दर्शाता है। यह सरकार की कार्यप्रणाली, नीतियों और वैधता को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नीचे लोकतंत्र में जनमत के महत्व का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है:

1. लोकतांत्रिक शासन की आधारशिला

लोकतंत्र में सरकार को अपनी शक्ति जनता की इच्छा से प्राप्त होती है। जनमत उसी इच्छा को प्रकट करता है और शासकों के लिए दिशा-निर्देशक का कार्य करता है। जनप्रतिनिधियों से अपेक्षा की जाती है कि वे जनता के हित और विचारों के अनुसार कार्य करें। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो जनता उन्हें चुनाव के माध्यम से सत्ता से हटा सकती है। इस प्रकार, जनमत सरकार को वैधता प्रदान करता है और उसे जनता के प्रति जवाबदेह बनाता है।

2. नीतियों और निर्णयों को प्रभावित करता है

लोकतांत्रिक देशों में जनमत सरकार की नीतियों और निर्णयों को गहराई से प्रभावित करता है। नेता और नीति-निर्माता सर्वेक्षणों, मीडिया, जनसभाओं आदि के माध्यम से जनभावना को समझने की कोशिश करते हैं। जब किसी मुद्दे पर जनता की भावना मजबूत होती है, तो सरकार अक्सर उसी के अनुसार नीति परिवर्तन करती है।

3. नेताओं और संस्थाओं की जवाबदेही सुनिश्चित करता है

जनमत सरकार की शक्ति पर नियंत्रण रखने का एक सशक्त माध्यम है। जब नागरिक अपने विचार खुलकर व्यक्त करते हैं, तो वे शासकों को उनके कार्यों के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। यदि कोई नेता जनभावना की अपेक्षा करता है, तो वह जनता का समर्थन खो सकता है। यह दबाव नेताओं को जिम्मेदारी से कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।

4. नागरिक भागीदारी को प्रोत्साहित करता है

लोकतंत्र केवल मतदान तक सीमित नहीं है, बल्कि यह निरंतर भागीदारी की प्रक्रिया है। जनमत नागरिकों को राजनीतिक और सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरित करता है। इससे चर्चाएं, बहसों, प्रदर्शन, याचिकाएं और जन आंदोलनों को बल मिलता है। यह लोकतंत्र को जीवंत और मजबूत बनाता है।

5. चुनावी परिणामों को निर्धारित करता है

जनमत चुनावों में निर्णायक भूमिका निभाता है। राजनीतिक दल और उम्मीदवार जनता की प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर अपने चुनावी वादे और रणनीतियां बनाते हैं। जनता अपने मताधिकार के माध्यम से अपना मत व्यक्त करती है, जिससे प्रतिनिधियों का चयन होता है।

6. राजनीतिक स्थिरता और शांति को बढ़ावा देता है

जब सरकार जनभावना के प्रति संवेदनशील होती है, तो समाज में शांति और स्थिरता बनी रहती है। एक उत्तरदायी सरकार को जनता का विश्वास प्राप्त होता है और वह सामाजिक सहयोग प्राप्त करती है। इससे अशांति और विद्रोह की संभावना कम होती है।

7. स्वतंत्र और उत्तरदायी प्रेस को बढ़ावा देता है

लोकतंत्र में जनमत का निर्माण और अभिव्यक्ति मुख्यतः मीडिया के माध्यम से होती है। एक स्वतंत्र प्रेस नागरिकों को सूचित करता है, मुद्दों को उजागर करता है, और बहस का मंच प्रदान करता है। इससे समाज में विविध दृष्टिकोणों को स्थान मिलता है और जनजागरूकता बढ़ती है।

8. सुशासन को प्रोत्साहित करता है

जनमत सरकार के प्रदर्शन का दर्पण होता है। जब लोग भ्रष्टाचार, अन्याय या कुप्रशासन के खिलाफ बोलते हैं, तो वे सरकार को सुधार के लिए बाध्य करते हैं। इससे सेवा की गुणवत्ता, पारदर्शिता और प्रशासनिक जवाबदेही में सुधार होता है।

9. बहुलवाद और सहिष्णुता को बढ़ावा देता है

लोकतंत्र में जनमत विविध समुदायों और समूहों की विभिन्न रायों को समाहित करता है। इस विविधता का सम्मान करना सहिष्णुता और संवाद की संस्कृति को मजबूत करता है। इससे एक समावेशी लोकतंत्र की स्थापना होती है जहाँ अल्पसंख्यकों की आवाज़ भी सुनी जाती है।

निष्कर्ष:

जनमत केवल यह नहीं दर्शाता कि लोग क्या सोचते हैं, बल्कि यह लोकतंत्र को सक्रिय रूप से आकार देता है। यह सरकार को जवाबदेह बनाता है, नीतियों को प्रासंगिक रखता है, और नागरिकों की आवाज़ को सशक्त करता है। एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए एक जागरूक, सक्रिय और मुखर जनता की आवश्यकता होती है, जिसकी राय को गंभीरता से लिया जाए। जनमत का निर्माण शिक्षा, स्वतंत्र मीडिया, नागरिक स्वतंत्रताओं और खुले संवाद के माध्यम से ही संभव है।

Unit-IV

भारतीय राजनीति पर जाति का प्रभाव

1. निर्णय-निर्माण प्रक्रिया पर प्रभाव (Impact on Decision-Making Process)- भारत में जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर निर्णय-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गयी थी। आगे चलकर 1990 में 'मण्डल आयोग' की सिफारिशों को लागू करते हुए 'अन्य पिछड़े वर्गों' (OBC) को भी सरकारी सेवाओं में आरक्षण दे दिया गया। अन्य अनेक जातियाँ चाहती हैं कि उन्हें भी अन्य पिछड़े वर्गों में शामिल किया जाए, ताकि वे भी इसका लाभ उठा सकें। राजस्थान में गुर्जरों ने आरक्षण के विषय में यह माँग कर डाली कि उन्हें अन्य पिछड़े वर्गों में शामिल किया जाए, ताकि उनको मिलने वाले आरक्षण को न्यायालय अवैध घोषित न कर पाए। इसी प्रकार जुलाई-अगस्त 2015 में गुजरात में पटेल जाति ने भी यही माँग राज्य सरकार से कर डाली और इसके लिए आन्दोलन छेड़ दिया।

2. जातिगत आधार पर उम्मीदवारों का चयन (Selection of Candidates on Caste Basis)- भारत में चुनावों में राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों का चयन प्रायः जातिगत आधार पर करते हैं। यहाँ राजनीतिक दल निर्वाचन क्षेत्रों के लिए उम्मीदवार मनोनीत करते समय जातिगत आंकड़ों का अवश्य ही विश्लेषण करते हैं। राजनीतिक पार्टियाँ चुनाव में टिकट देते समय जातीय समीकरणों को देखती हैं।

3. मतदान व्यवहार (Voting Behaviour) - भारत में चुनावों में जाति का एक साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। उम्मीदवार जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहे होते हैं, उस निर्वाचन क्षेत्र में जातीय भावना को उकसाया जाता है, ताकि उम्मीदवारों को किसी विशेष जाति के मतदाताओं का समर्थन मिल सके। जनवरी, 1980 के चुनावों में उत्तर प्रदेश एवं बिहार के कुछ हिस्सों में लोक दल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक थी।

4. मंत्रि-परिषदों का गठन (Formation of Council of Ministers) – भारत में राजनीतिक जीवन में जाति की जड़ें इतनी अधिक गहरी हो गयी हैं कि यहाँ मंत्रि-परिषदों का गठन करते समय जातिगत समीकरणों पर ध्यान दिया जाता है। यहाँ तक कि केन्द्रीय मंत्रि-परिषद में भी हरिजनों, जनजातियों, सिक्खों, मुसलमानों, ब्राह्मणों, जाटों, राजपूतों एवं कायस्थों को कोई-न-कोई स्थान अवश्य दिया जाता है। इतना ही नहीं, प्रायः हर प्रधान मंत्री विभागों का वितरण करते समय अल्पसंख्यक विभाग किसी अल्पसंख्यक समुदाय के व्यक्ति को सौंपता है।

5. जाति-आधारित दबाव समूह (Caste-Based Pressure Groups) - मेयर के अनुसार, भारत में “वास्तव में जातीय संगठन राजनीतिक महत्त्व के दबाव समूहों के रूप में कार्य कर रहे हैं।” जातीय दबाव समूह अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, उससे इनकी तुलना यूरोप एवं अमेरिका में पाए जाने वाले दबाव समूहों से की जा सकती है। अनेक जातीय संगठन; जैसे-तमिल नाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगते हैं और अपने संगठित बल के आधार पर हर सम्भव सीमा तक राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।

6. जाति के आधार पर स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था (Provision of Reservation of Seats on the basis of Caste)- भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अनुसूचित जातियों और अनुसूचित कबीलों से सम्बन्धित हैं। इन जातियों के लोग शताब्दियों तक सामाजिक अपमान और सामाजिक भेदभाव के शिकार होते रहे हैं। इसलिए यह अनिवार्य था कि जनसंख्या के इस भाग को अन्य लोगों के समान उठाने के योग्य बनाने के लिए इनको कुछ विशेष सुविधाएं दी जाएं। इसी कारण संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन जातियों के लोगों के लिए भारतीय शासन व्यवस्था में विशेष सुविधाएं दी गई हैं। विधानमण्डली, सरकारी सेवाओं, शिक्षण संस्थाओं आदि में इन जातियों के लोगों के लिए कुछ स्थान आरक्षित रखे गए हैं। संसद द्वारा यह अवधि बढ़ाकर 2030 तक निश्चित कर दी गई है। स्थानीय निकायों में भी इनकी जनसंख्या के अनुपात में इन वर्गों के लिए स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। जाति के आधार पर आरक्षित स्थान रखने की संवैधानिक व्यवस्था ने भारतीय राजनीति का जातिकरण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत की है। जब कभी भी कोई राजनीतिक दल अपनी नीतियां या कार्यक्रम निश्चित करता है तो वह अनुसूचित जातियों की भलाई के प्रति विशेष ध्यान देने का वचन देता है।

जाति पर राजनीतिक व्यवस्था का प्रभाव (IMPACT OF POLITY ON CASTE)

उपर्युक्त तथ्य चित्र के एक रूप की अभिव्यक्ति करते हैं। इसके सन्दर्भ में कोई सन्देह नहीं है कि जाति के तथ्य ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को कई पक्षों से प्रभावित किया है। परन्तु इसके विपरीत राजनीतिक व्यवस्था का भी जाति-प्रथा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐसे प्रभावों का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है-

1. जाति-प्रथा के स्वरूप में परिवर्तन (Change in the Nature of Caste System) - भारतीय संविधान द्वारा अस्पृश्यता की समाप्ति की गई है। किसी भी रूप में अस्पृश्यता पर कार्यान्वयन करना या इसका प्रचार करना वैधानिक अपराध है। इन

नवीन परिस्थितियों ने जाति-प्रथा के स्वरूप को बदल कर रख दिया है।

2. जातियों के राजनीतिक महत्त्व में वृद्धि (Increase in the Political Importance of Castes) - भारत में संविधान द्वारा राजनीतिक समानता का सिद्धान्त क्रियान्वित किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को एक मत का अधिकार दिया गया है। जाति के आधार पर किसी भी व्यक्ति को राजनीतिक अधिकारों व सरकारी सेवाओं से वंचित नहीं किया जा सकता। हमारे देश में संयुक्त चुनाव प्रणाली क्रियान्वित की गई है। चुनाव लड़ने वाले प्रत्येक विधायक को सभी मतदाताओं से मत की 'भिक्षा' मांगनी पड़ती है। इन सभी बातों ने कथित जातियों के लोगों की राजनीतिक महत्ता में वृद्धि की है।

3. राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि (Increase in the Political Participation) - जाति के तथ्य ने लोगों की राजनीतिक सहभागिता में पर्याप्त वृद्धि की है। लोग जातीय-भावना से प्रेरित होकर अपने मताधिकार का उपयोग अवश्य करते हैं। लोगों को इस बात का अनुभव हो गया है कि राजनीतिक शक्ति का सन्तुलन उनके हाथों में है। जिस राजनीतिक दल को जातियों के लोगों का समर्थन प्राप्त होगा वह राजनीतिक दल, राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने में अवश्य ही सफल होगा। जहां से अनुसूचित जातियों के प्रत्याशी चुनाव लड़ते हैं उन चुनाव क्षेत्रों में प्रायः भारी मतदान होता है।

4. जातीय विशिष्ट वर्ग का विकास (Emergence of Caste Elites) - राजनीतिक व्यवस्था ने अनुसूचित जातियों के लिए कई विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की है। इन विशेष सुविधाओं का लाभ इन जातियों के सभी लोगों तक नहीं पहुंच सका है। इन जातियों के थोड़े से लोगों ने इन सुविधाओं का लाभ उठा कर देश की राजनीति में अपना विशेष स्थान बना लिया है। ये लोग ही जातीय विशिष्ट वर्ग के रूप में उत्कृष्ट हुए हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल इस विशिष्ट वर्ग के नेताओं को अपने साथ जोड़ने का प्रयास करता है। जातीय विशिष्ट वर्ग के विकास ने निम्न जातियों के साधारण लोगों के महत्त्व को घटाया है। राजनीतिक दल इस विशिष्ट वर्ग के लोगों से ही राजनीतिक सौदेबाज़ी कर लेते हैं और विशिष्ट वर्ग के नेता साधारण लोगों को अपने पीछे लगाने का प्रयास करते हैं।

4. मध्यम एवं निम्न जातियों की सामाजिक-आर्थिक दशा में सुधार (Improvement in Socio-economic Conditions of Middle and Lower Castes) - सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों को सरकारी सेवाओं में आरक्षण दिए जाने, और इनके बच्चों के लिए शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश में आरक्षण व्यवस्था लागू किए जाने से इन जातियों की सामाजिक-आर्थिक दशा में उल्लेखनीय सुधार हुआ है। मनरेगा जैसी योजनाओं के लागू करने से निम्न जातियों के निर्धन लोगों को रोजगार उपलब्ध हुआ है।

आरक्षण की राजनीति (POLITICS OF RESERVATION)

भारतीय समाज में कमजोर एवं पिछड़े वर्गों के विकास को विश्वसनीय बनाने के उद्देश्य से भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़े वर्गों आदि के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है। आरक्षण सम्बन्धी संवैधानिक व्यवस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

1. विधानमण्डलों में आरक्षण (Reservation in Legislatures) – संविधान के अनुच्छेद 330 में यह व्यवस्था है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए लोकसभा (House of People) में स्थान आरक्षित रखे जाएंगे। प्रत्येक राज्य में इन वर्गों के लिए आरक्षित स्थान की संख्या इन वर्गों के सम्बन्धित राज्य में जनसंख्या के अनुपात से निश्चित की जाएगी। संविधान के अनुच्छेद 332 में यह व्यवस्था है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए राज्यों की विधानसभाओं में भी स्थान आरक्षित रखना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य की विधानसभा में इन वर्गों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या, उस राज्य में इन वर्गों की अपनी अपनी जनसंख्या और उस राज्य की कुल जनसंख्या के अनुपात से निश्चित की जाएगी। यहां यह वर्णनीय

है कि राज्य सभा (Council of States) और विधान परिषदों (Legislative Councils) में इन वर्गों के लिये स्थान आरक्षित रखने की कोई व्यवस्था नहीं की गई है। संविधान के अनुसार अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए लोकसभा और राज्य सभा तथा विधानसभाओं में स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था संविधान के लागू होने से 10 वर्ष तक लागू रहनी थी, परन्तु आरक्षण की इस व्यवस्था को दस दस वर्षों के पश्चात् बढ़ाया गया। अक्तूबर, 2009 में एक अधिनियम पारित करके इस व्यवस्था को आगामी दस वर्षों के लिए बढ़ा दिया गया। अब यह व्यवस्था 2030 तक लागू रहेगी।

2. स्थानीय संस्थाओं में आरक्षण (Reservation in Local Bodies)— दिसम्बर, 1992 में संसद् द्वारा पास किए गए 73वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा पंचायती राज की संस्थाओं में अनुसूचित जाति और जनजातियों और स्त्रियों के लिए स्थान आरक्षित रखने की संवैधानिक व्यवस्था की गई है। इस संवैधानिक संशोधन के द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के अध्यक्षों के कुछ पद इन वर्गों के लिए आरक्षित रखे गए हैं। इसी तरह दिसम्बर, 1992 में संसद् द्वारा पास किए गए 74वें संवैधानिक संशोधन द्वारा शहरी स्थानीय संस्थाओं में भी अनुसूचित जातियों व जनजातियों तथा स्त्रियों के लिए स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है।

3. नौकरियों में आरक्षण (Reservation in Services)- संविधान के अनुच्छेद 16 की धारा 4 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि किसी ऐसी पिछड़ी श्रेणी के लिए राज्य नौकरियों में आरक्षण रख सकता है जिस वर्ग को सरकारी सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न हुआ हो। संविधान की यह व्यवस्था सरकार की किसी भी पिछड़ी हुई श्रेणी के लिए सरकारी सेवाओं में स्थान में आरक्षित रखने की शक्ति देती है। पिछड़े वर्ग में अनुसूचित जाति, जनजाति तथा समाज के अन्य पिछड़े वर्ग शामिल हैं। अनुच्छेद 16 धारा 4-A के अन्तर्गत सरकार ऐसी अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिए सरकारी सेवाओं में पदोन्नति (Promotion) के सम्बन्ध में भी स्थान आरक्षित रख सकती है जो अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों सरकारी सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न कर सकती हो। संविधान के अनुच्छेद 335 में यह व्यवस्था की गई है कि प्रशासन की योग्यता को कायम रखते हुए केन्द्र और राज्य सरकारों की सेवाओं के पदों पर नियुक्तियां करते समय अनुसूचित जातियों व जनजातियों के विशेष दावों को ध्यान में रखा जाएगा इस तरह स्पष्ट है कि संविधान के अनुच्छेद 16 धारा 4 और संविधान के अनुच्छेद 335 केन्द्र व राज्य सरकारों की सेवाओं में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था करते हैं। वर्तमान समय में 15 प्रतिशत पद अनुसूचित जातियों के लिए तथा 7.5% पद अनुसूचित जन जातियों के लिए आरक्षित रखे जाते हैं। इनके अतिरिक्त मण्डल आयोग की सिफारिशों के अनुसार सरकारी व सार्वजनिक क्षेत्रों के 27% पद अन्य पिछड़े वर्गों (Other Backward Classes) के लिए आरक्षित रखे जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार कुल उपलब्ध वर्गों में से 50% से अधिक पद आरक्षित नहीं रखे जा सकते हैं।

निजी शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण (Reservation in Private Educational Institutions)-21 दिसम्बर, 2005 को लोकसभा ने और 22 दिसम्बर, 2005 को राज्यसभा ने संविधान का 104वां संशोधन पास किया या और इस संशोधन को 2 फरवरी, 2006 को राष्ट्रपति डॉ० ए०पी० जे० अब्दुल कलाम ने अपनी स्वीकृति दे दी थी। इस संशोधन द्वारा संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि सरकार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अतिरिक्त सामाजिक और शैक्षणिक तौर से पिछड़े वर्गों के लिए निजी शिक्षण संस्थाओं में स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था कर सकती है। इस संवैधानिक संशोधन ने यह स्पष्ट किया है कि सरकार से सहायता प्राप्त करने वाली और गैर-सहायता प्राप्त करने वाली निजी शिक्षण संस्थाओं में स्थान आरक्षित रखे जा सकते हैं। इस संवैधानिक संशोधन के पास होने से पूर्व निजी शिक्षण संस्थाओं में स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था नहीं थी। इस संवैधानिक संशोधन के फलस्वरूप सरकारी शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त निजी शिक्षण संस्थाओं में भी स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है। यहाँ यह वर्णन योग्य है कि निजी शिक्षण संस्थाओं में वह संस्थाएं शामिल नहीं हैं जो अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित की जा रही हैं। दूसरे शब्दों में, सरकार अल्पसंख्यकों द्वारा चलाई जा रही संस्थाओं में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और सामाजिक व शैक्षणिक तौर पर पिछड़े वर्गों के लिए स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था नहीं कर सकती है। सरकार द्वारा पारित इस संशोधन विधेयक पर 27 मार्च, 2007 को सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ आपत्तियां प्रकट करते हुए रोक लगा दी थी, परन्तु 10 अप्रैल, 2008 को सर्वोच्च न्यायालय ने अन्य पिछड़े वर्गों (OBC's) को उच्च शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण देने सम्बन्धी विधेयक को वैध ठहराते हुए इस वर्ग को इन संस्थाओं में आरक्षण देने के आदेश जारी किए थे। इस आरक्षण के लाभ से 'समृद्ध वर्ग' (Creamy Layer Class) को वंचित रखा गया था।

4. आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए आरक्षण (Reservation for Economically Weaker Sections) - केंद्र सरकार ने 17वीं लोक सभा के चुनावों के मद्देनजर संविधान में 103वां संशोधन कर डाला, जिसके तहत अनारक्षित वर्गों में शामिल 'आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों' (EWSs) के लिए सरकारी नौकरियों में भर्ती और शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए 10 प्रतिशत सीटें आरक्षित कर दी गयीं। इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। सर्वोच्च न्यायालय ने 7 नवंबर, 2022 को 3-2 के बहुमत से दिए अपने निर्णय में 103वें संशोधन अधिनियम (2019) की पुष्टि की।

इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने सकारात्मक कार्रवाई (Affirmative Action) का विस्तार करते हुए अगड़ी जातियों के उन आर्थिक रूप से कमजोर लोगों को भी आरक्षण का लाभ देने का समर्थन किया, जो अभी तक आरक्षण के लाभ से वंचित थे। सर्वोच्च न्यायालय ने अपीलकर्ताओं के इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों से संबंध रखने वाले गैर-सम्पन्न (Non-creamy Layer) लोगों को 10 प्रतिशत आरक्षण से बाहर रखना पक्षपातपूर्ण (Discriminatory) है और यह संशोधन इंदिरा साहनी मुकदमें (1992) में तय की गयी आरक्षण की 50 प्रतिशत की सीमा का उल्लंघन करता है।

आरक्षण के पक्ष और विपक्ष में तर्क (ARGUMENTS FOR AND AGAINST RESERVATION)

स्वतन्त्र भारत में अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए लागू आरक्षण की नीति के विषय में कई महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हो गए हैं। इन नीति सम्बन्धी भारतीयों में साधारणतः सहमति नहीं है। लोगों का बहुमत आरक्षण के पक्ष में है। जबकि ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है जोकि आरक्षण की नीति का विरोध करते हैं।

आरक्षण की नीति के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं-

1. असमानताओं को समाप्त करने के लिए आवश्यक (Essential for the Removal of all Inequalities)- सदियों से भारतीय समाज के लोगों का बहुमत कथित उच्च वर्गों के लोगों के अमानवीय व्यवहार और अत्याचार का शिकार रहा है। इसलिए दलितों और पिछड़े वर्गों के लोगों के लिए विशेष व्यवस्था की जानी आवश्यक है। इन विशेष सुविधाओं का मुख्य उद्देश्य दलितों को दूसरे वर्ग के लोगों के समान उठने के योग्य बनाना है। भारतीय समाज में अब भी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं का अस्तित्व व्यापक स्तर पर पाया जाता है। जब तक ऐसी असमानताएं निश्चित स्तर पर नहीं आ जातीं तब तक दलितों के लिए आरक्षण की नीति को जारी रखना बहुत आवश्यक है।

2. प्रस्तावना में अंकित आदर्शों की प्राप्ति के लिए सहायक (Helpful to achieve the ideals enshrined in the Preamble)- भारतीय संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के अतिरिक्त भाषण देने और विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता, पद और अवसर की समानता देने और उन सभी में भाई-चारे की भावना तथा व्यक्तित्व गौरव विकसित करने का भारतीय लोगों का संकल्प अंकित किया गया है। यदि दलित वर्गों के लिए संरक्षित भेदभाव (Protective Discrimination) की व्यवस्था को खत्म कर दिया जाता है। प्रस्तावना में अंकित आदर्शों की प्राप्ति असम्भव बन जाएगी। आरक्षण की नीति ने दलित वर्गों के काफी अधिकार लोगों को शैक्षणिक संस्थाओं, सार्वजनिक उद्यमों, तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्रों, पेशेवर संस्थाओं और सरकारी सेवाओं में प्रवेश करने के लिए प्रेरित किया है।

3. दलित स्त्रियों के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक (Essential for the allround development of Dalit Women)- आरक्षण की नीति के परिणामस्वरूप ही दलित वर्गों की स्त्रियों ने सामाजिक तौर पर काफी अधिक विकास किया है और आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी भारी बहुमत से प्रवेश किया है। यदि आरक्षण की नीति लागू न की जाती तो दलित वर्गों की स्त्रियों के लिए आधुनिक वैज्ञानिक युग में अन्य वर्गों की स्त्रियों के समान विकास करना असम्भव ही होना था। 73वें संवैधानिक संशोधन ने पंचायती राज की संस्थाओं में, 74वें संवैधानिक संशोधन ने शहरी क्षेत्रों की स्थानीय संस्थाओं में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की स्त्रियों के लिए स्थान आरक्षित रखने की व्यवस्था करके दलित स्त्रियों को पुरुषों के

समान स्थानीय स्वशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के योग्य बनाया है। भारत में कुछ समय से केन्द्रीय संसद् और राज्य विधानमण्डलों में स्त्रियों के लिए 33% स्थान आरक्षित रखने के विषय में बहस चल रही है। इस विषय के सम्बन्ध में कई बार संसद् के अधिवेशनों में यह बिल 1998 में पेश करने के यत्न किए गए थे, परन्तु कुछ दलों के विरोध के कारण यह बिल लोकसभा में पेश नहीं किया जा सका था। उस बिल का विरोध करने वाले अधिकांश राजनीतिक दल यह मांग करते हैं कि स्त्रियों के लिए आरक्षित रखे जाने वाले 33% स्थानों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों की स्त्रियों के लिए भी स्थान रखने की विशेष व्यवस्था की जाए।

4. समाज के वंचित वर्गों के मानसिक विकास के लिए आवश्यक (Essential for the mental Development of the Deprived Sections of Society)- आरक्षण की नीति उन वर्गों के लोगों के पक्ष में ग्रहण की गई है जिन्हें कि उनके योग्य मानवीय अधिकारों से उच्च वर्गों के लोगों ने ही वंचित किया था। काफ़ी लम्बे समय तक अमानवीय व्यवहार और अत्याचार का शिकार होने के कारण वंचित वर्गों के लोगों में हीनता की भावना का विकास होना बिल्कुल स्वाभाविक था। आरक्षण की नीति ने बहुत अधिक दलितों की मानसिकता में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है और उस परिवर्तन के फलस्वरूप ही इन वर्गों के लोग हीनता की भावना से मुक्त हो रहे हैं। दलितों की स्थिति ऐसी है कि वह अपने बल से उन वर्गों के लोगों का सामना नहीं कर सकते हैं जिन वर्गों के लोगों ने उन्हें अपने अत्याचारी व्यवहार का शिकार बनाया था। सरकारी और सामाजिक स्तर पर विशेष व्यवस्था समाज के वंचित वर्गों के लोगों के मानसिक विकास को विश्वसनीय बना सकती है। आरक्षण की नीति भी एक ऐसा ही साधन है जो दलितों की सोच में रचनात्मक परिवर्तन लाने और उनके मानसिक विकास को विश्वसनीय बनाने के लिए आवश्यक अवस्थाएं विकसित कर सकती है।

5. सामाजिक आर्थिक परिवर्तन का साधन (Instrument of Socio-Economic Transformation)-आरक्षण की नीति भारतीय समाज में सामाजिक आर्थिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुई है। इस व्यावहारिक सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि दलितों के भारी बहुमत ने सरकारी सेवाओं, राजनीतिक क्षेत्र और आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश किया है। उनके जीवन स्तर में महान परिवर्तन हुआ है और इन वर्गों के लोगों को व्यापारिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं। वर्तमान परिस्थितियों में पिछड़े वर्गों के लोगों से खुले रूप में भेदभाव करना अथवा उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करना अथवा उनके साथ किसी भी रूप में दुर्व्यवहार करना सम्भव नहीं रहा है। वर्तमान समाज में कथित दलित वर्गों के लोग उच्च सरकारी पदों पर विराजमान हैं और कथित उच्च वर्गों के लोग उनके अधीन काम करते हैं। सामाजिक आर्थिक परिवर्तन की क्रान्ति को सम्पूर्ण करने के लिए नीति को जारी रखना उचित लगता है।

6. राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक (Essential for the Success of Political Democracy)- राजनीतिक लोकतन्त्र का मूल आधार समानता का सिद्धान्त है परन्तु किसी समाज में सभी नागरिकों को केवल राजनीतिक अधिकार समान रूप से प्रदान करने से राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता तो विश्वसनीय नहीं हो सकती है। राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता के लिए सामाजिक और आर्थिक समानता का अस्तित्व भी आवश्यक है। सामाजिक और आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र केवल दिखावा ही सिद्ध होता है और वास्तव में वह लोकतन्त्र नहीं होता है। आरक्षण की नीति का मुख्य उद्देश्य ही दलितों को अन्य वर्गों के लोगों के समान होने के योग्य बनाना है। आरक्षण की नीति द्वारा ही पिछड़े वर्गों की राष्ट्रीय मुख्य धारा में शामिल होने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। आरक्षण की नीति के फलस्वरूप ही दलितों ने राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश किया है। इस नीति के द्वारा ही भारतीय समाज में पाई जाने वाली गम्भीर सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को घटाने का सफल यत्न किया गया है। ऐसी असमानताओं के कम होने पर ही भारत का राजनीतिक लोकतन्त्र सफलता के मार्ग पर चलने के योग्य हो सकता है।

आरक्षण के विरुद्ध तर्क (ARGUMENTS AGAINST RESERVATION)

आरक्षण के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रायः दिए जाते हैं-

1. निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति करने में असफल (Failed to achieve the desired Objects) – जिन उद्देश्यों को मुख्य रखकर संविधान निर्माताओं ने आरक्षण सम्बन्धी संवैधानिक व्यवस्था की थी, उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी है। यह ठीक है

कि दलितों के जीवन स्तर में काफ़ी परिवर्तन आया है और उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सफलतापूर्वक प्रवेश भी किया है परन्तु उन दलितों की संख्या बहुत कम है जिन्होंने आरक्षण की नीति और विशेष सुविधा की व्यवस्था का लाभ हुआ है। अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के लोगों तक इन सुविधाओं का लाभ नहीं पहुंचा है। पिछड़े वर्गों के लोगों का भारी बहुमत अब भी अशिक्षा, अज्ञानता, अमानवीय व्यवहार, भेदभाव पूर्ण अत्याचार और सामाजिक अन्याय का शिकार है। आलोचकों का यह मत है कि इस नीति ने पिछड़े वर्गों के मुट्टी भर लोगों को लाभ पहुंचाया है और सामान्य दलितों को इस नीति का कोई लाभ नहीं पहुंचा है। जिन उद्देश्यों के लिए आरक्षण की नीति ग्रहण की गई थी, उन उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो सकी है। इसीलिए इस नीति को जारी रखने की अपेक्षा इस पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है।

2. जाति पर आधारित विशिष्ट वर्ग का जन्म (Emergence of caste based Elites)- आरक्षण की नीति का मूल आधार जाति है। कुछ जातियों के लोगों ने आरक्षण की नीति का पूर्ण लाभ उठाया है। आरक्षण सम्बन्धी व्यावहारिक सत्य यह है कि इस नीति का लाभ कुछ खानदानों के परिवारों को ही हुआ है। एक सर्वेक्षण के अनुसार उच्च सरकारी पदों पर आसीन 30% दलित एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्बन्धी हैं। जाति पर आधारित विशिष्ट वर्ग का जन्म दलितों में भी वर्ग विभाजन का कारण बन रहा है। इसीलिए कई दलित जातियां यह मांग कर रही हैं कि आरक्षण की नीति के अन्तर्गत उन्हें अधिक सुविधा दी जाए क्योंकि अब तक थोड़ी-सी जातियों के ही बहुत अधिक लोगों ने लाभ उठाया है, परन्तु इस नीति का लाभ प्राप्त नहीं कर सकी हैं।

3. सामाजिक तनाव का कारण (Cause of Social Tension) - आरक्षण की नीति सामाजिक तनाव को विकसित करने के लिए काफ़ी सीमा तक उत्तरदायी है। गैर अनुसूचित जातियों के लोग अनुसूचित जातियों के उन लोगों से ईर्ष्या करते हैं। जिन्हें उच्च सरकारी पद योग्यता पर आधारित होने के कारण नहीं अपितु अनुसूचित जाति से सम्बन्धित होने के कारण मिले जब गैर अनुसूचित वर्गों के लोगों के बच्चों को शैक्षणिक व्यावसायिक संस्थाओं में उच्च कोटि के होने के बावजूद भी प्रवेश नहीं मिलता है और नाममात्र योग्यता वाले बच्चों को उन संस्थाओं में दाखिला मिल जाता है तो उनके मन में आरक्षण की नीति के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक तूफान उठता है। जब अगस्त 1990 में मण्डल आयोग की रिपोर्ट लागू करने के विषय में प्रधानमंत्री वी० पी० सिंह ने घोषणा की थी उससे समुचित देश में उसके विरुद्ध जोरदार आन्दोलन आरम्भ हो गया था। पिछड़े वर्गों के पक्ष में सरकारी सेवाओं में 27% स्थान आरक्षित रखने को सरकारी नीति का गैर-अनुसूचित वर्गों के युवकों ने जोरदार विरोध किया था। देश के कई भागों में हिंसक घटनाएं भी हुई थी और कुछ युवकों ने आरक्षण की नीति के विरुद्ध अपना रोष प्रकट करते हुए आत्म-दाह भी किया था। इससे पूर्व गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु और अन्य राज्यों में भी युवकों ने आरक्षण के विरुद्ध आन्दोलन चलाए थे।

4. हीनता की भावना पैदा करने के लिए उत्तरदायी (Responsbile for the creation of Inferiority Complex)- आरक्षण की नीति दलित वर्गों के लोगों में हीनता की भावना विकसित करती है। ऐसी भावना उनके मानसिक विकास में भी रुकावट बनती है। आरक्षण के कारण आरक्षित वर्ग और अनारक्षित वर्ग के बीच दूरी बढ़ी है, जिससे दलित वर्गों में हीनता का विकास हुआ है।

5. राजनीति का जातिकरण (Castecisation of Politics)- आरक्षण की नीति कुछ सीमा तक भारतीय राजनीतिक का जातीयकरण करने के लिए भी उत्तरदायी है। प्रत्येक राजनीतिक दल दलित वर्गों के लोगों को अपना वोट बैंक बनाने का इच्छुक है। इसीलिए प्रत्येक राजनीतिक दल आरक्षण की नीति को कायम रखने का समर्थन करता है। कोई भी दल इस नीति के दोषों को दूर करने के लिए पहल करने को तैयार नहीं है। उसे यह भय है कि ऐसा करने से अनुसूचित जातियों और जनजातियों का एक विशेष केन्द्र (Cell) जो स्थापित हुआ है, वह उनसे दूर भाग जाएगा। कई राजनीतिक दलों का निर्माण ही दलितों के हितों की सुरक्षा और विकास के उद्देश्य से ही हुआ है। बहुजन समाज पार्टी ऐसे राजनीतिक दल का सर्वोत्तम उदाहरण है। आरक्षण की नीति ने सरकारी सेवाओं में भी अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के अधिकारियों और कर्मचारियों के अपने पृथक् व्यावसायिक संगठन बनाने के लिए प्रेरित किया है।

6. अधिक आरक्षण की मांग करना (Incitement to demand for more Reservations)- आरक्षण की नीति का यह निष्कर्ष भी निकला है कि कई वर्गों की तरफ से और आरक्षण की मांग उठ रही है। स्त्रियों की यह मांग है कि विधानमण्डलों में 33% स्थान आरक्षित करने के अतिरिक्त सरकारी सेवाओं में स्त्रियों के लिए स्थान आरक्षित रखे जाने चाहिए। मुसलमान और कई अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा भी उनके पक्ष में आरक्षण की मांग की जा रही है। दलित ईसाइयों और कई अन्य

जातियों की यह मांग है कि उन्हें अनुसूचित जातियों की सूची में शामिल किया जाए। आरक्षण की नीति के लाभ प्राप्त करने के लिए कई विकसित जातियां भी अपनी राजनीतिक शक्ति की सहायता से अनुसूचित जातियों की सूची में शामिल होने के लिए सरकार पर दबाव डाल रही हैं। आरक्षण की वर्तमान नीति अन्य वर्गों द्वारा और आरक्षण की मांग को उत्तेजित करने के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी है।

दलित/पिछड़े वर्गों और आरक्षण का राजनीतिक पर प्रभाव (EFFECTS OF THE POLITICS OF DALITS/BACKWARD CLASSES AND RESERVATIONS)

दलितों अथवा पिछड़े वर्गों और आरक्षण की राजनीति के भारतीय समाज और भारतीय राजनीति पर कई तरह के महत्वपूर्ण प्रभाव पाए गए हैं। ऐसे प्रभावों का निम्नलिखित शीर्षकों के अधीन वर्णन किया जा सकता है-

1. दलितों का सर्वांगीण विकास (Allround Development of Dalits)- समस्त पिछड़े वर्गों को विशेष सुविधाएं देने से दलित वर्गों के काफी अधिक लोगों का सर्वांगीण विकास हुआ है। कोई समय था जब दलितों के साथ अन्य वर्गों के लोग सामाजिक मेल-जोल भी नहीं कर रखते थे और उन्हें पृथक् बस्तियों में रहने के लिए विवश होना पड़ता था। परन्तु अब दलितों की ऐसी स्थिति बीते समय की कहानी बन कर रह गई है। यह सत्य है कि पिछड़े वर्गों के काफी अधिक लोगों को आरक्षण और विशेष सुविधाओं का लाभ नहीं हुआ है, परन्तु इस व्यावहारिक तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि इन वर्गों के काफी अधिक लोगों ने विशेष सुविधाओं की व्यवस्था से पूरा लाभ उठाया है। वर्तमान समय में जाति आधारित कठोर बन्धन बहुत अधिक कमजोर पड़ा गया है और कथित निम्न जातियों और उच्च जातियों के लोगों में अन्तर्जातीय विवाह होने लग पड़े हैं। यह सब कुछ पिछड़े वर्गों के लिए की गई विशेष सुविधाओं की व्यवस्था और आरक्षण की नीति के फलस्वरूप हुआ है।

2. वर्गीय चेतना का विकास (Development of Class Consciousness) - दलितों की राजनीति ने दलितों में वर्गीय भावना को विकसित किया है। लोकतन्त्रीय प्रणाली ने उन्हें एक तरफ अपने अधिकारों के विषय में सचेत करवाया है और दूसरी तरफ उन्हें यह एहसास भी हुआ है कि उच्च जातियों के लोगों ने काफी लम्बे समय तक उनके साथ न केवल दुर्व्यवहार ही किया है, अपितु उनका बहुपक्षीय शोषण भी किया है। दलित राजनीति ने उनके भीतर नवीन चेतना विकसित की है। जिसने उन्हें संगठित होने और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी है। अखिल भारतीय रिपब्लिकन पार्टी और लोक जनशक्ति का निर्माण और प्रत्येक राजनीतिक दल के संगठन में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विशेष केन्द्रों (Cells) की स्थापना उनकी इस नवीन चेतना के विकास का ही परिणाम है।

3. जाति-आधारित राजनीतिक दलों और दबाव समूहों का निर्माण (Formation of Caste-Based Political Parties and Pressure Groups)- भारत की कुल आबादी का लगभग 30% भाग पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित है। इन पिछड़े वर्गों में अनुसूचित जातियां और जनजातियां शामिल हैं। दलित राजनीति ने इन वर्गों के लोगों में इस भावना को जन्म दिया है कि भारतीय समाज के अन्य वर्ग और राजनीतिक दल अपने हितों के विकास और राजनीतिक शक्ति ग्रहण करने के लिए उन्हें साधन के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। अन्य शब्दों में, दलित वर्ग अन्य वर्गों को शासक बनाने की अपेक्षा आप स्वयं शासक बनना चाहते हैं। इस भावना ने उन्हें राजनीतिक दलों के रूप में संगठित होने के लिए प्रेरित किया है। भारतीय राजनीति में बहुजन समाज पार्टी, रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया, लोक जनशक्ति आदि दलों को दलितों की ही पार्टी माना जाता है। इन दलों ने खुले तौर पर अपनी दलित समर्थक नीति की घोषणा की है और शासन शक्ति अपनाने के लिए समूचे दलित वर्ग को प्रेरित करने का यत्न किया है। अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ (All India Scheduled Castes Federation) और अन्य इस तरह के कई दबाव समूह भी अस्तित्व में आए हैं।

4. दलितों में विशिष्ट वर्ग का विकास (Emergence of Elites in the Dalits)- पिछड़े वर्गों की राजनीति ने दलितों में भी विशिष्ट वर्ग को जन्म दिया है। आरक्षण की नीति का लाभ उठाते हुए दलित वर्गों के थोड़े से परिवारों ने ही राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक और व्यापारिक क्षेत्रों में प्रवेश किया है। इन वर्गों के लोग ही सरकारी पदों पर आसीन हुए हैं। इन परिवारों में घनिष्ठ सम्बन्ध सामान्य तौर पर मिलते हैं। जिन दलितों ने आरक्षण और अन्य विशेष सुविधाओं का लाभ उठा कर अधिक विकास

किया है, वह दलित समूचे पिछड़े वर्ग में विशिष्ट वर्ग का रूप धारण करते जा रहे हैं। इस विशिष्ट वर्ग के लोग आम दलितों से भी सामाजिक मेल-जोल रखने से संकोच करते हैं। यह विशिष्ट वर्ग ऐसी जीवन पद्धति ग्रहण कर रहा है जो इस वर्ग के लोगों को आम दलितों से दूर और उच्च वर्ग के मध्यम वर्ग अथवा उच्च मध्य श्रेणी के लोगों के नजदीक ला रही है। ऐसे विशिष्ट वर्ग के विकसित होने से दलितों में भी वर्गीय अथवा जातीय विभाजन हो रहा है।

5. सामाजिक तनाव का विकास (Emergence of Social Tension)- दलितों की राजनीति ने भारतीय समाज में काफ़ी सीमा तक सामाजिक तनाव भी विकसित किया है। पिछड़े वर्गों के लोगों को दी गई विशेष सुविधाएं अन्य लोगों में विरोधी भावना विकसित करती हैं। ऐसी भावनाएं उस समय अधिक उग्र हो जाती हैं जब गैर-अनुसूचित जातियों के लोगों को योग्यता के बावजूद भी सरकारी सेवाओं और शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता है

6. दलित वोट बैंक के रूप में (Dalits-as a Vote Bank)- दलितों की राजनीति का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि दलितों को एक वोट बैंक के रूप में समझा जाता है। कुछ दलित नेताओं का यह विचार गलत नहीं है कि भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों द्वारा अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों को वोट बैंक के तौर पर प्रयोग किया गया है। कोई भी ऐसा राजनीतिक दल नहीं है जो स्वयं को अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों का मसीहा न बताता हो, परन्तु इनमें से किसी भी कथित मसीहा ने कभी दलितों को जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं उपलब्ध करवाने के विषय में कोई ठोस उपाय नहीं किये हैं। हजारों दलितों के विकास का भाव समस्त दलित वर्ग का विकास नहीं है। आज भी असंख्य दलित उन हालातों में रह रहे हैं जिन हालातों में वह भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व रह रहे थे।

7. मतदान व्यवहार का निर्धारक (Determinant of Voting Behaviour)- पिछड़े वर्गों की राजनीति दलितों के मतदान व्यवहार को भी प्रभावित करती है। राजनीतिक दल भारतीय मतदाताओं की अपनी जाति के प्रति श्रद्धा से पूरी तरह परिचित है। इसलिए चुनावों के समय उनका यह यत्न होता है कि वह किसी विशेष चुनाव क्षेत्र के लिए उस जाति से सम्बन्धित व्यक्ति को ही अपना उम्मीदवार बनाए जिस जाति के लोगों का उस चुनाव क्षेत्र में विशेष प्रभाव है। चुनाव प्रचार के दौरान भी लोगों की जातीय भावनाओं को उत्तेजित किया जाता है और जाति के नाम पर वोटों की मांग की जाती है। न केवल अनुसूचित जातियों के लोग ही अपितु गैर-अनुसूचित वर्गों के मतदाताओं के मतदान व्यवहार को भी जाति का तथ्य अवश्य प्रभावित करता है।

8. अधिक आरक्षण की मांग (Emergence of demand for more Reservations)- दलित राजनीति या आरक्षण की राजनीति ने गैर-अनुसूचित जातियों को भी आरक्षण की मांग करने के लिए उत्तेजित किया है। कई विकसित जातियां अपने राजनीतिक प्रभाव से सरकार पर दबाव डाल रही हैं कि उन्हें भी अनुसूचित जातियों की सूची में शामिल किया जाए। दलित ईसाइयों द्वारा यह मांग काफ़ी लम्बे समय से की जा रही है। स्त्रियों की भी यह मांग है कि सरकारी सेवाओं और विधानमण्डलों में 33% स्थान उनके लिए आरक्षित रखे जाएं। मुसलमान और कई अन्य धार्मिक अल्पसंख्यक भी आरक्षण की मांग कर रहे हैं। मण्डल आयोग की सिफारिश के अनुसार अन्य पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी सेवाओं में 27% स्थान आरक्षित रखने के साथ अधिक आरक्षण की मांग और अधिक बलवती हो रही है।

9. आरक्षण को समाप्त करने की मांग (Demand for the End of Reservations)- एक तरफ आरक्षण के लिए मांग बढ़ रही है, परन्तु दूसरी तरफ गैर-अनुसूचित वर्गों के लोगों द्वारा आरक्षण को समाप्त करने की मांग भी जोर पकड़ रही है। यह मांग विशेष तौर पर युवकों द्वारा की जा रही है। गैर-अनुसूचित वर्गों के युवा यह महसूस करते हैं कि आरक्षण की नीति के कारण उनका भविष्य उज्ज्वल नहीं है क्योंकि इस नीति के फलस्वरूप शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने और सरकारी सेवाओं में प्रवेश करने के अवसर उनके लिए बहुत सीमित होकर रह गए हैं।

10. राजनीति का जातीयकरण (Castecised of Politics)- दलित राजनीति भारतीय राजनीति के जातीयकरण के लिए कुछ सीमा तक जिम्मेदार है। प्रत्येक राजनीतिक दल भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका के महत्त्व को अनुभव करता है। इसीलिए प्रत्येक राजनीतिक दल अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों का हितैषी होने का दावा करते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल ने अपने संगठन में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए विशेष केन्द्र स्थापित किए हैं। आम चुनावों के लिए अपने उम्मीदवारों का चुनाव करते समय भी राजनीतिक दल जाति के तथ्य को विशेष महत्त्व देते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों

को सन्तुष्ट करने के लिए लगभग प्रत्येक महत्त्वपूर्ण जाति से सम्बन्धित व्यक्ति को चुनाव टिकट देने का प्रयत्न किया जाता है। चुनावों के समय वोटों को प्राप्त करने के उद्देश्य से मतदाताओं की जातीय भावना को भी उत्तेजित करने के लिए कई तरह के प्रयत्न किए जाते हैं। मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते समय भी शासक दल भिन्न-भिन्न जातियों को मन्त्रिमण्डल में स्थान देने के लिए हर तरह के सम्भव यत्न करता है। इस कथन में कोई सन्देह नहीं है कि भारत में या तो 'जाति का राजनीतिकरण' अथवा 'राजनीति का जातिकरण' हुआ है तथा यह प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन बढ़ रही है।

11. गठबन्धन की राजनीति के लिए उत्साह (Encouragement to Coalition Politics)- भारत में गठबन्धन की राजनीति का युग चल रहा है। इस तरह की राजनीति को विकसित करने में अनेक तथ्यों की देन है। उस तथ्यों में दलित राजनीति/आरक्षण की राजनीति का तथ्य भी शामिल है। बहुजन समाज पार्टी मुख्य तौर पर दलितों का राजनीतिक संगठन है। इस दल का भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि दलितों का बहुत बड़ा भाग इस दल का मुख्य समर्थन आधार है। दलितों का मुख्य प्रतिनिधि होने के कारण लगभग सभी राजनीतिक दल बहुजन समाज पार्टी से चुनावी समझौते करने के लिए पूर्ण इच्छुक होते हैं। उन्हें इस राजनीतिक तथ्य की जानकारी है कि दलितों के सहयोग के बिना वह राजनीतिक शक्ति बनाने में सफल नहीं हो सकते हैं। इसलिए वह जहां दलितों के सर्वांगीण विकास के लिए अपने चुनाव घोषणा-पत्रों में वादे करते हैं, वहीं बहुजन समाज पार्टी से चुनावी समझौते करने के लिए हर तरह का सम्भव यत्न करते हैं।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद (Regionalism in Indian Politics)

साधारण शब्दों में, **क्षेत्रवाद** से हमारा अभिप्रायः किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की उस भावना से होता है, जो उन्हें अपने क्षेत्र के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए प्रेरित करती है। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में क्षेत्रवाद एक अपभ्रंश प्रयोग है, जिसका **अभिप्राय** है- राष्ट्र की तुलना में किसी विशेष क्षेत्र अथवा राज्य की अपेक्षा किसी छोटे क्षेत्र के प्रति लगाव, भक्ति या विशेष आकर्षण ही क्षेत्रवाद है।

डॉ. डी.सी. गुप्ता के अनुसार "क्षेत्रवाद का अर्थ देश की तुलना में किसी विशेष क्षेत्र के साथ अनुराग है।" इस तरह क्षेत्रवाद राष्ट्रीयता की भावना का विलोम है, जिसका उद्देश्य होता है-संकीर्ण क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति। भारतीय राजनीतिक परिपेक्ष्य में यह एक ऐसी अवधारणा है, जो राष्ट्रीय एकीकरण को समाप्त करते हुए पृथकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है।

क्षेत्रवाद के रूप (Forms of Regionalism)

प्रमुख तौर पर, भारत में क्षेत्रवाद निम्नलिखित तीन रूपों में प्रकट हुआ है-

1. भाषाई क्षेत्रवाद (Linguistic Regionalism) - भारत में भाषाई क्षेत्रवाद को उत्पन्न एवं विकसित करने में राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन एक प्रमुख कारण रहा है। भाषाई विवाद स्वतंत्रता से पूर्व ही राजनीति का एक प्रमुख मुद्दा बन गया था। संविधान के निर्माण के दौरान ही भाषा के आधार पर राज्यों के गठन की माँग जोर पकड़ने लगी थी। 19 अक्टूबर, 1952 में तेलुगू भाषी लोगों के लिए अलग राज्य की माँग को लेकर प्रसिद्ध गांधीवादी नेता पोट्टी श्रीरामुलु ने आमरण अनशन किया। 56 दिन के अनशन के पश्चात् 15 दिसम्बर, 1952 को उनका स्वर्गवास हो गया, जिसके कारण इस आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। अन्ततः 1 अक्टूबर, 1953 को आंध्र प्रदेश की स्थापना कर दी गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक क्षेत्रों से भाषा के आधार पर अलग राज्यों के गठन की माँगें आनी आरम्भ हो गयीं और इसके लिए आन्दोलन भी आरम्भ हो गए।

इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार ने 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन किया। इस आयोग के अध्यक्ष जस्टिस फजल अली और सदस्य के.एम. पाणिकर एवं एच.एन. कुँजरू थे। इस आयोग की सिफारिश पर 1956 में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया, जिसके फलस्वरूप 14 राज्य और छः संघीय क्षेत्र अस्तित्व में आए। इस आयोग की सिफारिशों के मद्देनज़ 1960 में तत्कालीन बम्बई राज्य का विभाजन करके महाराष्ट्र एवं गुजरात राज्य स्थापित किए गए। इसी

प्रकार 1 नवम्बर, 1966 को तत्कालीन पंजाब राज्य का विभाजन किया गया, जिसके परिणामस्वरूप पंजाब एवं हरियाणा नामक राज्य अस्तित्व में आए। इस तरह भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन होता गया और भारतीय संघ के राज्यों की संख्या बढ़ती गयी। वर्तमान (जनवरी, 2025) में 28 राज्य एवं सात संघीय क्षेत्र मिलकर भारतीय संघ का निर्माण करते हैं।

2. सुरक्षात्मक क्षेत्रवाद (Protective Regionalism)- कई राज्यों में सुरक्षात्मक क्षेत्रवाद का विकास हुआ है। सुरक्षात्मक क्षेत्रवाद का आर्थिक आधार रहा है। इसका जन्म उन राज्यों में हुआ, जहाँ पर दूसरे राज्यों से आए लोगों ने व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योगों पर अपना अधिकार जमा लिया था और जहाँ स्थानीय लोग बाहरी लोगों की तुलना में आर्थिक रूप से पिछड़ गए थे। इस प्रकार के क्षेत्रवाद का आरम्भ देश की वाणिज्य राजधानी कहलाने वाले मुम्बई शहर से हुआ। महाराष्ट्र में 1966 में शिव सेना ने मराठियों की रक्षा के लिए संघर्ष छेड़ दिया। शिव सेना ने इस बात पर बल दिया कि मराठी केवल उन होटलों में जाएँ, जो मराठियों द्वारा चलाए जा रहे हैं और शहर में मराठियों को ही मकान किराए पर दिए जाएँ। महाराष्ट्र में शिव सेना की तरह, आंध्र प्रदेश में तेलंगाना प्रजा समिति और असम में अखिल असम विद्यार्थी परिषद एवं सर्व असम गण संग्राम परिषद् आदि की गतिविधियाँ सुरक्षात्मक क्षेत्रवाद के रूप में उभरी।

3. अलगाववादी क्षेत्रवाद (Secessionist Regionalism)- अलगाववादी क्षेत्रवाद ऐसा क्षेत्रवाद है, जिसका निहितार्थ भारत संघ से अलग होना है। इस प्रकार के क्षेत्रवाद का प्रथम उदाहरण 5 जून 1960 को उस समय हमारे सामने आया, जब द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने मद्रास (चेन्नई) में यह माँग की कि मद्रास राज्य को भारत से अलग करके 'तमिल नाडु' नामक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जाए। इसके कुछ समय पश्चात् इसने यह माँग की कि मद्रास, आंध्र प्रदेश, केरल एवं मैसूर राज्यों को भारत से अलग करके एक स्वतंत्र राज्य बना दिया जाए। जब उसकी इस माँग को पूरा समर्थन नहीं मिला, तो उसने यह माँग छोड़ दी। 1960 के दशक में ही मिजोरम में भी भारत से पृथक होने के लिए आन्दोलन चलाया गया। यही बात नागालैण्ड में भी देखने को मिली।

1980 के दशक में पंजाब में अलगाववादी क्षेत्रवाद की राजनीति के परिणामस्वरूप अनेक हिंसक घटनाएँ हुईं। अन्त में यहाँ अमृतसर स्थित स्वर्ण मन्दिर परिसर में सेना को हस्तक्षेप करना पड़ा, जिसके कारण प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी को अपनी जान गंवानी पड़ी। अलगाववादी क्षेत्रवाद जम्मू-कश्मीर में आरम्भ से ही चला आ रहा था, किन्तु पिछले 25-30 वर्षों में कश्मीर में अलगाववादी शक्तियों और अधिक सक्रिय हुई है। भारत में जारी अलगाववादी क्षेत्रवाद को उभारने में पड़ोसी देश पाकिस्तान भी सक्रिय भूमिका निभा रहा है। यदि स्पष्ट रूप से कहा जाए तो कश्मीर में अलगाववादी शक्तियों को पाकिस्तान का संरक्षण प्राप्त है।

क्षेत्रवाद के जन्म के कारण (Causes of the Rise of Regionalism)

क्षेत्रवाद के जन्म के मुख्य कारण हैं-

1. भौगोलिक कारण (Geographical Causes) - भारत में क्षेत्रवाद की भावना को जन्म देने में भौगोलिक एवं सांस्कृतिक कारकों की उल्लेखनीय भूमिका रही है। भारत में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश एवं बिहार आकार की दृष्टि से बड़े राज्य हैं। ये राज्य भौगोलिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। यदि मध्य प्रदेश से मालवा क्षेत्र को और राजस्थान से मेवाड़ एवं मारवाड़ क्षेत्रों को अलग करके राज्य का दर्जा दे दिया जाए, तो भी ये नागालैंड से बड़े राज्य होंगे और ये अलग राज्य के रूप में अधिक विकास कर सकेंगे। संस्कृति भी क्षेत्रवाद को जन्म देने में सहयोग देती हैं। तमिल नाडु के लोग अपनी संस्कृति पर बहुत गर्व करते हैं। इसी आधार पर वे राम जैसे महापुरुष की आलोचना करते हैं। इसी कारण 1975 में तमिल नाडु में राम एवं लक्ष्मण के पुतले जलाए गए थे।

2. ऐतिहासिक कारण (Historical Causes) - स्वतंत्रता प्राप्ति के समय सैकड़ों देशी रियासतों को भारतीय संघ में मिला दिया गया था। आज भी इन रियासतों के लोग यह महसूस करते हैं कि यदि उनकी रियासत एक पृथक राज्य होती, तो वे अधिक लाभ की स्थिति में होते। इसी प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले देशी रियासतों के मध्य जो कलह या टकराव रहता था,

वह आज भी इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के एक-दूसरे के समीप आने में बाधा बना हुआ है। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत के लोग यह मानते हैं कि उत्तर के लोगों ने उन पर शासन किया है। दूसरे शब्दों में, भारत का इतिहास क्षेत्रों के आधार पर भिन्न-भिन्न है और यह अभी भी भारतीय राजनीति को प्रभावित करता है।

3. सांस्कृतिक कारण (Cultural Causes) - भारत विश्व का ऐसा देश है, जहाँ सर्वाधिक सांस्कृतिक विविधता देखने को मिलती है। यहाँ उत्तर के पहाड़ी राज्यों-जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश एवं उत्तराखण्ड की संस्कृति मैदानी राज्यों की संस्कृति से एकदम भिन्न है। पूर्वोत्तर राज्य, जिन्हें 'सात बहनों' के नाम से जाना जाता है, की अपनी अलग ही संस्कृति है। ऐसे किसी राज्य या क्षेत्र में रहने वाले लोग स्वयं को दूसरे राज्यों या क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से अलग महसूस करते हैं। जिसके कारण इनका अपने क्षेत्र से लगाव हो जाता है।

4. आर्थिक कारण (Economic Causes)- भारत में आर्थिक कारक भी क्षेत्रवाद के उदय के लिए जिम्मेदार रहे हैं। देश में कई ऐसे राज्य हैं, जहाँ आर्थिक असंतुलन देखने को मिलता है अर्थात् एक ही राज्य के कुछ क्षेत्र साधनसम्पन्न हैं, तो दूसरे क्षेत्र साधनहीन। ऐसी स्थिति में साधनहीन क्षेत्रों के लोगों में असन्तोष जन्म लेने लगता है और वे विकास के नाम पर अलग राज्य की माँग करने लगते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के मध्य आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न करने में नेताओं का भेदभावपूर्ण व्यवहार काफी हद तक जिम्मेदार रहा है, क्योंकि ये अपने-अपने निर्वाचन क्षेत्रों का ही विकास करते रहे हैं।

5. राजनीतिक कारण (Political Causes)- देश में राजनीतिक कारणों से भी क्षेत्रवाद का जन्म हुआ है। राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि जिन क्षेत्रों से उनका संबंध है, यदि वे पृथक राज्य बन जाएँ, तो उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। क्षेत्रीय दलों; जैसे डी.एम.के., अकाली दल, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, शिव सेना आदि ने राजनीतिक कारणों से क्षेत्रवाद की भावना को हवा दी है। दूसरी ओर केन्द्र सरकार के कुछ राज्यों के साथ सौतेले व्यवहार ने भी क्षेत्रवाद की भावना को जन्म दिया है।

6. भाषावाद (Linguism)- भारत में 22 भाषाओं को संविधान द्वारा मान्यता प्रदान की जा चुकी है। इनके अलावा भी देश में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। भारत सरकार ने भाषा संबंधी विवादों को सुलझाने के काफी प्रयास किए हैं। उदाहरण के लिए इसने पहले 1953 में आंध्र प्रदेश का गठन किया और बाद में 1956 में भाषा के आधार पर सभी राज्यों का पुनर्गठन किया। इसके बावजूद भी, यह समस्या नहीं सुलझ पायी और भाषा के आधार पर अलग राज्यों को स्थापना की माँगों की जाती रहीं। भाषा के आधार 1960 में बम्बई राज्य को महाराष्ट्र एवं गुजरात में विभक्त किया गया। भाषा के आधार पर अकाली दल ने 'पंजाबी सूबे' की स्थापना की माँग की, जिसकी परिणति 1 नवम्बर, 1966 को तत्कालीन पंजाब राज्य के विभाजन के रूप में हुई।

7. जाति एवं धर्म (Caste and Religion) – देश में जाति एवं धर्म ने भी क्षेत्रवाद को प्रोत्साहन दिया है। भारत में मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने से जातिवाद की प्रवृत्ति बड़ी है। जिन क्षेत्रों में किसी एक जाति की बहुलता होती है। वहाँ क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति अधिक दिखायी देती है। हरियाणा एवं महाराष्ट्र में जातीय तत्त्व क्षेत्रवाद की भावना को बढ़ाने में सहयोगी रहा है। यहाँ जाति की तरह, धर्म भी क्षेत्रवाद की भावना को बढ़ाने में उल्लेखनीय भूमिका अभिनीत कर रहा है। देश के जिन क्षेत्रों में एक धर्म के मानने वाले लोग रहते हैं, वे संगठित होकर अलग राज्य की माँग करने लगते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है कि अलग राज्य में उनके हित सुरक्षित रह सकते हैं। पंजाबी सूबे की माँग के पीछे, यह भी एक कारण रहा था।

8. अन्तर्राज्यीय झगड़े (Inter-State Disputes)- देश के अनेक राज्यों के मध्य जल, भू-प्रदेश के बँटवारे एवं राजधानी के हस्तांतरण को लेकर विवाद जारी हैं। राजनीतिक दलों ने इन विवादों को राजनीतिक रंग प्रदान करके क्षेत्रवाद को जन्म दिया है। पंजाब एवं हरियाणा के बीच चण्डीगढ़ एवं सतलुज-यमुना सम्पर्क नहर का विवाद, तमिल नाडु एवं कर्नाटक के बीच कावेरी जल विवाद, उत्तराखण्ड एवं उत्तर प्रदेश के मध्य उधम सिंह नगर एवं हरिद्वार को लेकर उभरे विवाद ने क्षेत्रवाद को जन्म दिया है।

9. राजनीतिक दल (Political Parties)- भारत में अक्सर क्षेत्रीय दल अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए क्षेत्रवाद को बढ़ावा देते हैं। क्षेत्रवाद के विकास में अनेक राजनीतिक दलों ने प्रमुख भूमिका निभायी है। इन दलों में डी.एम.के.,

ऑल इण्डिया अन्ना डी.एम.के., अकाली दल, तेलुगू देशम, असम गण परिषद्, इण्डियन नेशनल लोक दल, नेशनल कांफ्रेंस, पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल (यू), समाजवादी पार्टी, उत्तराखण्ड क्रान्ति दल, राष्ट्रीय लोक दल आदि शामिल हैं।

भारतीय राजनीति पर क्षेत्रवाद का प्रभाव (Impact of Regionalism on Indian Politics)

क्षेत्रवाद की भावना ने अनेक प्रकार से भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है; जैसे-

1. गठबन्धन की राजनीति (Politics of Coalition)- भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद ने गठबन्धन को राजनीति को जन्म दिया है। क्षेत्रवाद की भावना के कारण प्रायः मतदाता क्षेत्रीय दलों के पक्ष में मतदान करते हैं, जिसके कारण लोक सभा के चुनावों में राष्ट्रीय दलों को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता। ऐसे में राष्ट्रीय दल क्षेत्रीय दलों के सहयोग से सरकार का निर्माण करते हैं। एक समय 'राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन' में एक राष्ट्रीय दल के अलावा 20 से अधिक क्षेत्रीय दल शामिल थे। इसी प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व वाले 'संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन' में भी अनेकों क्षेत्रीय दल शामिल रहे। पिछले 20-25 वर्षों की राजनीति पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्रीय दल देश की राजनीति को दिशा देने में प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं।

2. मंत्रि-परिषद् का निर्माण (Formation of Council of Ministers)- भारत में मंत्रि-परिषद् के निर्माण के समय क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। मंत्रि-परिषद् में प्रायः सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को शामिल किया जाता है। सामान्यता यह शिकायत की जाती रही है कि पी.वी. नरसिम्हा राव एवं एच.डी. देवेगौड़ा को छोड़कर अब तक कोई भी प्रधान मंत्री दक्षिणी राज्यों से नहीं बना है। प्रधान मंत्री को अपने मंत्रि-परिषद् में प्रत्येक क्षेत्र को उसके महत्व के आधार पर प्रतिनिधित्व देना पड़ता है। ऐसा कहा जाता है कि प्रधान मंत्री अपने मंत्री चुनने में स्वतंत्र है; क्षेत्र चुनने में नहीं।

3. नए राज्यों के गठन की माँग (Demand for the Formation of New States)- स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के अनेक क्षेत्रों में नए राज्यों के गठन की माँगें की गयीं। इस क्रम में पहले आंध्र प्रदेश के गठन की माँग सामने आयी। इसके बाद 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। इसके बाद 1966 में पंजाब एवं हरियाणा का और 2000 में छत्तीसगढ़, झारखण्ड एवं उत्तराखण्ड का गठन हुआ, किन्तु इसके बाद भी यह माँग जारी रही। जून, 2014 में तेलंगाना की स्थापना के बाद भारतीय संघ के राज्यों की संख्या बढ़कर 29 हो गयी थी। फिर भी, क्षेत्रीय आधार पर राज्यों के गठन की माँगें कम नहीं हुई हैं। अभी भी हरित प्रदेश, बुन्देलखण्ड, विदर्भ, पूर्वांचल, बोडोलैण्ड आदि राज्यों के गठन की माँग की जा रही है।

4. भाषावाद का जन्म (Origin of Linguism)- भारत में क्षेत्रवाद ने भाषावाद को जन्म दिया है। क्षेत्रीय भावनाओं के कारण दक्षिण के राज्यों ने हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का विरोध किया, तो उत्तर के राज्यों ने अंग्रेजी भाषा का विरोध किया। यहाँ भाषा के प्रश्न पर उत्तर एवं दक्षिण के राज्य एक-दूसरे के सामने खड़े नजर आए। क्षेत्रीय भावनाओं के कारण स्वतंत्रता-प्राप्ति के 75 वर्षों के पश्चात् भी भारत में बोल-बाल की एक सामान्य भाषा का विकास नहीं हो पाया है।

5. अन्तर्राज्यीय विवादों का जन्म (Origin of Inter-State Disputes)- क्षेत्रवाद के कारण भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों के मध्य अनेक प्रकार के विवादों का जन्म हुआ है। क्षेत्रवाद के कारण मध्य प्रदेश, गुजरात एवं राजस्थान के मध्य नर्मदा नदी के जल के बंटवारे का विवाद, और हरियाणा एवं पंजाब के मध्य यमुना-सतलुज लिंक नहर के निर्माण एवं चण्डीगढ़ के हस्तांतरण का विवाद जारी है। इसी प्रकार तमिल नाडु एवं कर्नाटक के बीच कावेरी नदी जल विवाद और कर्नाटक, महाराष्ट्र एवं आंध्र प्रदेश के मध्य कृष्णा नदी जल विवाद जारी है।

6. अलगाववादी आंदोलनों का जन्म (Origin of Separatist Movements) - क्षेत्रीय भावनाओं के कारण अस्तित्व में आए क्षेत्रीय दलों एवं संगठनों ने कई पृथकतावादी (अलगाववादी) आंदोलन चलाए। 1950 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने मद्रास के भारतीय संघ से अलग होने की माँग कर डाली, तो मिजो नेशनल फ्रंट ने स्वतंत्र मिजो राज्य की स्थापना के लिए आंदोलन छेड़ दिया था।

7. राजनीतिक अस्थिरता (Political Instability) - क्षेत्रवाद का भारतीय राजनीति पर एक प्रभाव यह पड़ा है कि इससे

केन्द्र एवं अनेक राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता का माहौल उत्पन्न हुआ है। 1989 से लेकर 2009 तक सम्पन्न छः लोक सभा चुनावों में मतदाताओं ने क्षेत्रीय भावनाओं के आधार पर मतदान किया और किसी भी राष्ट्रीय दल को स्पष्ट बहुमत प्रदान नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस दौरान केन्द्र में जो भी सरकारें गठित हुईं, सभी क्षेत्रीय दलों के सहयोग से गठित हुईं। इन सरकारों में कुछ सरकारों का तो अपना कार्यकाल पूरा होने से पहले ही पतन हो गया था, और कुछ ने जैसे-तैसे अपना कार्यकाल पूरा किया था।

8. क्षेत्रीय दलों का उदय (Rise of Regional Parties)- क्षेत्रवाद के फलस्वरूप देश में अनेक क्षेत्रीय दलों का गठन हुआ। चुनाव आयोग ने 15वीं लोक सभा के चुनावों के समय 40 क्षेत्रीय दलों को और 16वीं लोक सभा के चुनावों के समय 56 क्षेत्रीय दलों को मान्यता प्रदान की। इनमें डी.एम.के.ए., आल इण्डिया अन्ना डी.एम.के., मिजो नेशनल फ्रंट, असम गण परिषद्, इण्डियन नेशनल लोकदल, अकाली दल, तेलुगू देशम, नेशनल काँग्रेस, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल (यू) आदि प्रमुख हैं। क्षेत्रवाद के प्रभाव के कारण इन दलों को जन-समर्थन भी मिलता रहा है।

9. केन्द्र एवं राज्यों के बीच तनावपूर्ण संबंध (Tense Relations between Centre and States) - क्षेत्रवाद के कारण केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों के बीच सम्बन्धों में कटुता आयी है। प्रत्येक क्षेत्र के हित-समूह, नेतागण, उद्योगपति या राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र के हितों को प्राथमिकता देते हैं और केन्द्र सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। अगर केन्द्र सरकार किसी क्षेत्र की ओर थोड़ी भी उदारता दिखाएँ, तो राज्य सरकारें नाराज हो जाती हैं। उदाहरण के लिए झारखण्ड राज्य की स्थापना के मुद्दे ने केन्द्र सरकार एवं बिहार सरकार के बीच तीव्र कटुता पैदा कर दी थी। क्षेत्रवाद के फलस्वरूप भारत में सहकारी संघवाद के स्थान पर संघर्षात्मक संघवाद (Confrontational Federalism) की स्थापना हुई है।

क्षेत्रवाद के उन्मूलन के तरीके (Means for the Eradication of Regionalism)

इसे समाप्त करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिएँ-

1. सभी क्षेत्रों का संतुलित विकास (Balanced Development of all Regions)- क्षेत्रवाद के जन्म का एक प्रमुख कारण रहा है- देश के विभिन्न राज्यों/क्षेत्रों का असंतुलित विकास। इसका अर्थ है-कुछ राज्यों/क्षेत्रों का अधिक विकास हो जाना और कुछ का कम विकास होना या बिल्कुल भी विकास न होना। सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए और इस प्रकार की नीति बनानी चाहिए, जिससे कि देश के अविकसित या अल्प विकसित क्षेत्रों का भी विकास हो सके।

2. अन्तर्राज्यीय विवादों का शीघ्र हल (Quick Solution of Inter-State Disputes) - भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों के मध्य नदियों के जल के बँटवारे को लेकर या किसी क्षेत्र/नगर के हस्तांतरण को लेकर जो विवाद चले आ रहे हैं, उनका शीघ्र हल किया जाना चाहिए, ताकि नेताओं के लिए क्षेत्रीय भावनाएँ भड़काने के मुद्दे समाप्त हो जाएँ।

3. भाषायी विवादों की समाप्ति (End of Linguistic Disputes)- भारत में भाषायी विवाद भी क्षेत्रवाद की भावना को जन्म देते हैं। हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाएँ उत्तर एवं दक्षिण के लोगों के मध्य मन-मुटाव पैदा करती हैं। सरकार को भाषा के संबंध में त्रि-भाषा फार्मूले को दृढ़तापूर्वक लागू करना चाहिए और सभी क्षेत्रीय भाषाओं को संवैधानिक मान्यता प्रदान करनी चाहिए।

4. अल्पसंख्यकों की शिकायतों का निवारण (Redressal of the Grievances of Minorities) - भारत में क्षेत्रवाद को जन्म देने एवं विकसित करने में धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों का भी हाथ रहा है, अतः क्षेत्रवाद को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि इनकी उचित शिकायतों का निवारण किया जाए। ऐसा किए जाने पर अल्पसंख्यक वर्ग देश की मुख्य धारा में रहेंगे और किसी प्रकार के पृथकतावादी आंदोलन को हवा नहीं देंगे।

5. केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच संवाद (Dialogue between Centre and State Governments) -क्षेत्रवाद को दूर करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच संवाद का वातावरण उत्पन्न किया जाना चाहिए, ताकि दोनों के बीच पारस्परिक

विश्वास बना रहे और ऐसे अवसर उत्पन्न न हों, जहाँ दोनों एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाएँ। इसके लिए केन्द्र द्वारा शुरूआत की जानी चाहिए।

क्षेत्रवाद पर भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का प्रभाव (IMPACT OF INDIAN POLITY ON REGIONALISM)

क्षेत्रवाद पर भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के प्रभावों का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है-

1. भाषावी संगठन क्षेत्रवाद के विकास हेतु प्रेरणा (Linguistic Organisation is an inspiration for Regionalism)- भारतीय संघ का गठन भाषायी आधार पर किया गया है। यह गठन वास्तव में दोषपूर्ण है क्योंकि राज्यों के लिए एक भाषायी राज्य होना लगभग असम्भव है। कई राज्यों का दो-भाषायी और कुछ अन्य राज्यों का बहु-भाषायी रूप भी है। ऐसे राज्यों में क्षेत्रवाद को प्रेरणा मिलनी स्वाभाविक है। क्योंकि जिन भाषाओं के आधार पर कुछ क्षेत्रों का गठन राज्य के रूप में नहीं किया गया है, उन क्षेत्रों के लोग अपने पृथक् भाषायी राज्य की मांग अवश्य करेंगे।

2. एकात्मकवादी प्रवृत्तियाँ क्षेत्रवाद को प्रोत्साहन देती हैं (Unitarian Tendencies Encourage Regionalism)- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था संरचना में तो अवश्य ही संघात्मक है, परन्तु वास्तव में इसका स्वरूप एकात्मक प्रतीत होता है। भारतीय संविधान में कई ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जो संघात्मक प्रणाली में नहीं मिलती। राज्यों को बहुत कम शक्तियाँ दी गई हैं और उनके वित्तीय साधन भी बहुत सीमित हैं। कई परिस्थितियों में केन्द्र सरकार राज्यों के शासन को अपने हाथ में ले सकती है। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यों में राष्ट्रपति शासन क्रियान्वित किया जा सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और उन्हें राष्ट्रपति द्वारा ही पदच्युत किया जा सकता है। ऐसी एकात्मक प्रवृत्तियों ने कई राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के विकास को प्रोत्साहित किया है। इसके साथ कई राज्यों के लोगों के दिल में बढ़ रहे केन्द्रवाद के विरुद्ध रोष भी उत्पन्न हुआ और ऐसे रोष ने क्षेत्रवाद की भावना को पर्याप्त सीमा तक प्रोत्साहित किया है।

3. केन्द्र सरकार और क्षेत्रवाद (Central Government and Regionalism)- भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् नवम्बर, 1989 तक केन्द्र में शासन का नेतृत्व कांग्रेस दल के हाथों में ही रहा था। मार्च, 1977 से जनवरी, 1980 तक लगभग 2 वर्षों का ऐसा समय था जब गैर-कांग्रेसी सरकारों ने केन्द्रीय सरकार का संचालन किया। संविधान निर्माताओं ने पहले ही केन्द्र सरकार को अत्यधिक शक्तियाँ दी थीं। परन्तु कांग्रेस की सरकार ने केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बनाने हेतु कई राजनीतिक और संवैधानिक पग उठाए थे। बढ़ रहे केन्द्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था और यह प्रतिक्रिया क्षेत्रवाद की भावना और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के विकास के रूप में दृष्टिगोचर हुई। इसके अतिरिक्त कांग्रेस सरकार की नीतियों ने क्षेत्रीय असन्तुलन (Regional Imbalance) को जन्म दिया। कई क्षेत्र प्रत्येक पक्ष से अधिक विकसित हो गए, परन्तु कुछ अन्य क्षेत्रों की नवीन संस्कृति के विकास का उजाला भी नसीब न हुआ। ऐसी स्थिति ने कुछ क्षेत्रों के लोगों में गहन रोष उत्पन्न किया और कई स्थानों पर उस रोष ने राजनीतिक आन्दोलनों का रूप धारण किया। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि कांग्रेस सरकार की केन्द्रवादी नीतियाँ भी क्षेत्रवाद के विकास हेतु पर्याप्त सीमा तक उत्तरदायी थीं।

राष्ट्रीय एकीकरण की समस्याएं (Problem of National Building & Integration)

Q. राष्ट्रीय एकीकरण से आप क्या समझते हैं? भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएँ हैं? उन्हें दूर करने के सुझाव दीजिए। (What do you understand by National Integration? What are the obstacles in the way of national integration in India? Give suggestions to remove them.)

उत्तर -साधारण शब्दों में, राष्ट्रीय एकीकरण से अभिप्राय होता है-एक ऐसी भावना, जो विभिन्न धर्म के अनुयाइयों, विभिन्न संस्कृतियों से जुड़े लोगों एवं विभिन्न भाषा-भाषी लोगों को एक-दूसरे से जोड़ते हुए एक संगठित सामूहिक जीवन का निर्माण करती है। अन्य शब्दों में, राष्ट्रीय एकीकरण से तात्पर्य विघटनकारी शक्तियों एवं प्रवृत्तियों का उन्मूलन करते हुए अनेकता में एकता की भावना उत्पन्न करने से होता है।

राष्ट्रीय एकीकरण को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। राष्ट्रीय एकीकरण-सम्बन्धी कुछ प्रमुख विद्वानों

की परिभाषाएँ हैं-

1. **माइनर वीनर** के शब्दों में, "राष्ट्रीय एकीकरण विशेष रूप से प्रादेशिक राष्ट्रीयता की उस भावना को इंगित करती है, जो अधीनस्थ और संकुचित वफादारियों को नष्ट कर डालती है।"

2. **एच.ए. गनी** के अनुसार, "राष्ट्रीय एकीकरण एक ऐसी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा लोगों के दिलों में एकता, दृढ़ता, सम्बद्धता की भावना विकसित होती है। उनमें सामान्य नागरिकता की भावना अववा राष्ट्र के प्रति वफादारी की भावना का विकास होता है।"

भारत में **राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधाएँ हैं-**

1. **जातिवाद (Casteism)**- भारत में जातिवाद राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा बना हुआ है। भारतीय समाज आज भी उच्च एवं निम्न जातियों में विभक्त है। चुनावों में राजनीतिक दलों द्वारा उम्मीदवारों का चयन जाति के आधार पर किया जाता है और चुनावों में जाति के नाम पर मत मांगे जाते हैं। प्रशासन में भी जातीयता का समावेश हो गया है। सरकारी नौकरियों में आरक्षण की नीति के जातिवाद को और अधिक बढ़ा दिया है। अनेक राजनीतिक दल जाति विशेष के दल बनकर रह गए हैं।

2. **भाषायी उन्माद (Linguistic Fanaticism)**-शुरू से ही भारत एक बहु-भाषी राज्य रहा है। 1927 में जो भाषा सर्वेक्षण प्रकाशित किया गया था, उसके अनुसार भारत में 179 भाषाएँ, 544 बोलियाँ तथा कुल मितकर 1652 मातृ-भाषाएँ थीं। 1961 की जनगणना के अनुसार भारत में 1018 भाषाएँ बोली जाती हैं, जिनमें 26 मुख्य थीं। संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं को शामिल किया गया है। ये भाषाएँ हैं- असमी, बांग्ला, गुजराती, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, सिन्धी, तमिल, तेलुगू, उर्दू, मणिपुरी, कोंकणी, नेपाली, मैथिली, डोगरी, संथाली व बोडो। भाषा के आधार पर देश उत्तरी और दक्षिणी भागों में बेटा हुआ नजर आता है। उत्तरी भारत हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकार करता है, तो दक्षिणी भारत हिन्दी का तीव्र विरोध करता है। 1960 के दशक में भाषावाद ने उग्र रूप धारण कर लिया था। भारत के अनेक राज्यों में भाषाई अल्पसंख्यक हैं, जो सरकार की भाषायी नीति से असन्तुष्ट हैं।

3. **क्षेत्रवाद (Regionalism)** - भारत में सांस्कृतिक एकता न होने के कारण राजनीतिज्ञ क्षेत्रीयता की संकुचित भावनाएं फैलाते रहते हैं। अनेक राजनीतिक दल क्षेत्रवाद को पुष्ट करते हैं। सरकारी व गैर-सरकारी सेवाओं में भर्ती योग्यता के स्थान पर नहीं, बल्कि 'धरती के सपूत' (Sons of the Soil) के सिद्धान्त पर की जाती है। मुम्बई में परीक्षा देने आए उत्तर प्रदेश व बिहार के नवयुवकों को मार पीटकर भगा दिया जाता है। क्षेत्रवाद के नाम पर नए-नए राज्यों के गठन की मांग की जाती है, जिसका उसी राज्य में रहने वाले अन्य क्षेत्रों के लोग तीव्र विरोध करते हैं। जून, 2014 में तेलंगाना राज्य की स्थापना ने आन्ध्र प्रदेश की जनता को एक-दूसरे का दुश्मन बना दिया है।

4. **राजनीतिक अवसरवादिता (Political Opportunism)**- राजनीति अवसरवादिता भी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा बनी हुई है। राजनीतिक दल विकासकारी योजनाओं को लागू करने के स्थान पर सत्ता पाने के लिए निरन्तर लगे रहते हैं। ये सिद्धान्तहीन समझौते करते हैं और तिल का ताड़ बनाकर व्यर्थ के हिंसक आन्दोलन छेड़ देते हैं। 2004 में हुए लोक सभा चुनावों में भी यही स्थिति सामने आई। शरद पवार, जिन्होंने सोनिया गाँधी के विदेशी मूल के मुद्दे पर कांग्रेस को छोड़कर राष्ट्रवादी काँग्रेस पार्टी का गठन किया था, ने काँग्रेस के साथ मिलकर चुनाव लड़ा और तत्पश्चात् केन्द्र में बनी संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार में शामिल हो गए। मई, 2006 में हुए विधान सभा चुनावों में असम और केन्द्र-शासित प्रदेश पाण्डिचेरी में बनी गठबन्धन सरकारें राजनीतिक अवसरवादिता का उदाहरण बनी है। यहाँ तक कि धर्म निरपेक्षता का दावा करने वाली कांग्रेस पार्टी भी सरकार बनाने के लिए मुस्लिम लीग से हाथ मिला लेती है। गठबन्धन सरकारें अस्थिर सरकारें होती हैं। ये अपनी कुर्सी बचाए रखने के लिए कभी एक वर्ग की अनुचित मांगों के सामने झुक जाती है, तो कभी दूसरे वर्ग की। इनकी ऐसी कार्यवाहियों से विभिन्न वर्गों में वैमनस्य बढ़ता है।

5. **असन्तुलित विकास (Imbalance Growth)**-भारत जैसे विशाल देश में एकता पैदा करने के लिए इसके सभी भागों अथवा क्षेत्रों का विकास किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से देश के किसी भी भौगोलिक क्षेत्र की उपेक्षा करना गलत है। गलत

नीतियों के कारण भारत के अनेक क्षेत्रों का विकास नहीं हो पाया है। आज भी उड़ीसा बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश आर्थिक विकास की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं।

6. समतायुक्त समाज के निर्माण में असफलता (Failure in Establishing of Equalitarian Society)- भारतीय संविधान-निर्माताओं ने धनी-निर्धन, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, स्पर्ध-अस्पर्ध आदि के भेद-भावों को समाप्त करके देश में समतायुक्त समाज के निर्माण का स्वप्न संजोया था। किन्तु पिछले दो-तीन दशकों में गरीब व्यक्ति और अधिक गरीब हुआ तथा अमीर और अधिक अमीर हुआ है। झुग्गी-झोपड़ियों की संख्या में हुई बेतहाशा वृद्धि से आर्थिक और सामाजिक असन्तुलन लगातार बढ़ता जा रहा है। ऐसे में जहाँ अमीर वर्ग निर्धन वर्ग के प्रति हीनता का भाव रखता है, वहीं साधनहीन वर्ग के मन में इस समृद्धिशाली वर्ग के विरुद्ध ईर्ष्या और घृणा पनपती है। ऐसे हालात में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या का हल दुर्लभ हो जाता है।

7. साम्प्रदायिकता (Communalism)- भारत एक बहु-धर्म देश है। यहाँ अनेक धर्मों के लोग रहते हैं। यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा देश में धर्म-निरपेक्ष शासन-प्रणाली की लागू की गई, तो भी साम्प्रदायिकता की समस्या हल नहीं हो पायी है। यहाँ साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में राजनीतिक दलों की विशेष भूमिका रही है। ये धर्म के आधार पर जनता को विभाजित करके अधिक-से-अधिक मत बटोरने का प्रयास करते हैं। दिसम्बर, 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करना, 2002 में गुजरात के साम्प्रदायिक दंगे, तथा सितम्बर, 2013 में उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर में हुई साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाएँ राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा बनकर प्रकट हुई हैं।

8. गरीबी (Poverty)-गरीबी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में प्रमुख बाधक है। गरीबी समाज में वर्ग-विभेद पैदा करती है, जिसके कारण वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है। यह वर्ग-संघर्ष निर्धन व धनी वर्ग के मध्य दूरी बनाए रखता है। निर्धन वर्ग का धनी वर्ग से नफरत करना सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि वही उसका शोषण करता है।

9. समाजवाद की असफलता (Failure of Socialism)-प्रो. गोविन्द राम वर्मा के मतानुसार समाजवाद की असफलता भी देश में राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा बनी है। यदि समाजवाद सफल हो जाता, तो आर्थिक विकास का लाभ सभी व्यक्तियों को मिलता। वर्तमान में बेरोजगारी, गरीबी, पिछड़ापन, आर्थिक विषमता आदि ऐसे तत्त्व हैं, जो देश में भावात्मक एकता पैदा नहीं होने देते।

10. आन्दोलनों और हिंसा की राजनीति (Politics of Agitations and Violence)-पिछले कुछ दशकों से देश की राजनीति में आन्दोलनों तथा हिंसा में वृद्धि हुई है। नागरिकों को संविधान के अन्तर्गत शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा विरोध प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, हिंसा करने की, लेकिन देश में राजनीतिक हिंसा की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। देश के लगभग आठ राज्यों और 160 जिलों में माओवादी अपना विरोध प्रकट करने के लिए हिंसात्मक साधनों का सहारा लिए हुए हैं। हिंसात्मक आन्दोलन या हिंसा की राजनीति राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक बाधा बनी हुई है।

11. क्षेत्रीय दल (Regional Parties)- पिछले दो-तीन दशकों से देश में क्षेत्रीय दलों की संख्या में वृद्धि हो रही है। चुनाव आयोग ने 2004 के लोक सभा चुनावों के समय 56 राजनीतिक दलों को और 2014 के लोक सभा चुनाव के समय 54 राजनीतिक दलों क्षेत्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की। क्षेत्रीय दल सदैव संकीर्ण क्षेत्रीय हितों की पूर्ति में लगे रहते हैं और दूसरे क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के हितों की पूर्ण उपेक्षा करते हैं इससे विभिन्न क्षेत्रों की जनता के बीच वैमनस्य बढ़ता है, जिससे राष्ट्रीय एकीकरण का मार्ग अवरूद्ध होता है।

12. विदेशी ताकतें (Foreign Powers)- विदेशी ताकतें भी भारत में अस्थिरता लाने का प्रयास करती रही हैं। पाकिस्तान खुले रूप में पंजाब तथा जम्मू-कश्मीर के उग्रवादियों को आधुनिक हथियार तथा वित्तीय सहायता प्रदान करता रहा है। इन्हीं हथियारों से ये आतंकवादी कार्यवाहियों को अंजाम देते हैं और जनता में एक-दूसरे के प्रति असुरक्षा व नफरत उत्पन्न करते हैं।

13. राष्ट्रीय चरित्र का अभाव (lack of National Character)- भारत में राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक अन्य बाधा लोगों में राष्ट्रीय चरित्र का अभाव है। देश में बहुत कम ऐसे लोग हैं, जो भारतीय होने का दावा करते हैं। यहाँ लोग स्वयं को हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पंजाबी, राजस्थानी या गुजराती समझते हैं। इनमें भारतीय होने के एहसास का अभाव राष्ट्रीय

एकीकरण के मार्ग में एक बड़ी बाधा बना हुआ है।

राष्ट्रीय एकीकरण की मार्ग में बाधाओं को दूर करने के लिए सुझाव (Suggestions to Remove Obstacles in the Way of National Integration)- देश की एकता तथा अखण्डता को बनाए रखने के लिए राष्ट्रीय एकीकरण अति आवश्यक है। राष्ट्रीय एकीकरण को बनाए रखने के लिए उन बाधाओं को दूर किया जाना चाहिए, जो इसके मार्ग को अवरुद्ध किए हुए हैं। इन बाधाओं को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिए-

1. सामाजिक, समानता की स्थापना (Establishment of Social Equality)- समाज में विशेष रूप से हिन्दू समाज में प्रचलित ऊँच-नीच को समाप्त करते हुए सामाजिक समानता स्थापित की जानी चाहिए, जिससे कि पिछड़े हुए वर्गों में किसी प्रकार की हीनता न रहे और वे उपेक्षित महसूस न करे। इसी प्रकार मुस्लिम अल्पसंख्यकों का पिछड़ापन भी दूर किया जाना चाहिए।
2. आर्थिक समानता की स्थापना (Establishment of Economic Equality)- देश में व्याप्त सामाजिक समानता के साथ ही आर्थिक असमानता भी दूर की जानी चाहिए, ताकि निर्धन लोगों में व्यवस्था में प्रति नफरत उत्पन्न न हो। इस प्रकार की आर्थिक नीति लागू की जानी चाहिए, जिससे गरीबी व बेरोजगारी दूर हो और समाज में धन का उचित वितरण हो, ताकि सभी व्यक्तियों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए। इस दिशा में समाजवादी नीतियों अपनाना उचित है।
3. निष्पक्ष प्रशासन (Impartial Administration) यदि मन्त्री और प्रशासनिक अधिकारी ईमानदार, निष्पक्ष और कार्यकुशल होंगे, तो जनता में उनके प्रति विश्वास पैदा होगा। इस विश्वास के अभाव में हिंसक व पृथकतावादी आन्दोलन चलाए जाते हैं, जिनसे राष्ट्रीय एकीकरण पर दुष्प्रभाव पड़ता है।
4. सार्वभौमिक संस्कृति का विकास (Development of Universal Culture)- राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए देश में सार्वभौमिक संस्कृति विकसित की जानी चाहिए। अन्य शब्दों में, राष्ट्रीय एकीकरण कायम करने के लिए गंगा-जमुनी संस्कृति का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए एक क्षेत्र के लोगों में दूसरे क्षेत्रों में जाने और वहाँ बसने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।
5. समस्याओं का शीघ्र-से-शीघ्र निराकरण (Quick Solution of Problems)- भारत में हिंसक व पृथकतावादी आन्दोलन इस कारण प्रारम्भ किए जाते हैं, क्योंकि जनता की समस्याओं को सुलझाने का समय पर प्रवल नहीं किया जाता। असम और पंजाब के आन्दोलन इस के उदाहरण हैं। समस्या चाहे भाषा से सम्बन्धित हो, जमीन के मुआवजे से सम्बन्धित हो या अन्य किसी मामले से, उसका शीघ्र-से-शीघ्र निराकरण होना चाहिए।
6. भ्रष्टाचार को दूर करना (To End Corruption)- राष्ट्रीय एकीकरण लाने के लिए प्रशासनिक भ्रष्टाचार समाप्त किया जाना आवश्यक है। इसके लिए सरकारी व गैर-सरकारी दोनों स्तरों पर प्रयास किए जाने चाहिए। इस दृष्टि से लोकपाल व लोकायुक्तों की स्थापना एक कारगर कदम हो सकता है।
7. राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान (To Honour National Symbols)- राष्ट्रीय एकीकरण के लिए राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान किया जाना आवश्यक है। सभी भारतीय राष्ट्रीय गान, राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रीय गीत का सम्मान करें, इस तरह की भावना इनमें विकसित की जानी चाहिए।
8. सिद्धान्तों पर आधारित राजनीति (Value-Based Politics)- राष्ट्रीय एकीकरण के विकास के लिए राजनीति का सिद्धान्त व मूल्यों पर आधारित होना आवश्यक है। राजनीतिज्ञों को धर्म, जाति, भाषा-क्षेत्र आदि की राजनीति से दूर रहना चाहिए, किन्तु ये व्यवहार में इसे नहीं अपनाते हैं। ऐसे में जनता का इनके प्रति विश्वास समाप्त हो जाता है।
9. समुचित शिक्षा व्यवस्था (Proper Education System)- समुचित शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय एकीकरण लाने का प्रमुख साधन है। शिक्षा-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिससे सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद की संकीर्ण भावनाएँ न पनप पाएँ और नागरिक देश-हित में सोच सकें।

10. भाषायी समस्या का समाधान (Solution of Language Problems)- राष्ट्रीय एकीकरण को बनाए रखने के लिए भाषायी समस्या का समाधान आवश्यक है। निःसन्देह हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में लागू किया जाना चाहिए, किन्तु ऐसा करने से पूर्व गैर-हिन्दी भाषी लोगों को विश्वास में लिया जाना चाहिए।

11. सन्तुलित आर्थिक विकास (Balanced Economic Development)- राष्ट्रीय एकीकरण के लिए आवश्यक है कि देश के सभी क्षेत्रों का योजनाबद्ध तरीके से आर्थिक विकास किया जाए। इसके लिए पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए, ताकि वे भी विकास के समुचित स्तर को प्राप्त कर सकें और अगड़े व पिछड़े क्षेत्रों में जारी टकराव दूर हो जाए।

12. साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबन्ध (Ban on Communal Organizations)- राष्ट्रीय एकीकरण कायम करने के लिए साम्प्रदायिक संगठनों एवं दलों पर प्रतिबन्ध लगाया जाना आवश्यक है, क्योंकि ये संगठन एक वर्ग को दूसरे वर्ग से लड़ाने का कार्य करते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)-निःसन्देह भारत में राष्ट्रीय एकीकरण एक गम्भीर चुनौती बनी हुई है। इसके लिए ये राजनीतिक दल बहुत हद तक जिम्मेदार हैं, क्योंकि अपने संकुचित स्वार्थों को पूरा करने के लिए ये राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करते रहे हैं। जब तक देश में साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद और जातिवाद हावी रहेंगे, राष्ट्रीय एकीकरण कायम नहीं किया जा सकेगा। अतः आवश्यकता इन सभी से ऊपर उठकर सोचने की है।

पंचायती राज संस्थाएँ (Panchayati Raj Institutions)

भारत में पंचायती राज संस्थाओं का इतिहास एवं विकास

पंचायत राज्य व्यवस्था (प्रणाली) का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में स्थानीय लोकतन्त्र को सुदृढ़ करना और लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं को राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रयास से पूरा करना है। भारत में स्थानीय शासन का एक इतिहास रहा है। ब्रिटिश शासन के दौरान लॉर्ड रिपन (1880-84) ने स्थानीय शासन को मजबूत करने का सराहनीय प्रयास किया था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इस विषय को प्राथमिकता के आधार पर लिया गया। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि भारत गाँवों में निवास करता है, यह तय किया गया कि ग्रामीण क्षेत्रों के विकास को सुनिश्चित करने और लोकतन्त्र के लिए जनता को प्रशिक्षित करने के लिए ऐसी संस्थाओं का गठन किया जाए, जिनमें ग्रामीण जनता की अधिक-से-अधिक भागीदारी हो। भारतीय संविधान के चौथे भाग में दिए गए राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में ग्राम पंचायतों के गठन और इनको प्रभावकारी बनाने की बात कही गयी।

भारत में पंचायती राज प्रणाली को लागू करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने 1956 में बलवन्त राय मेहता समिति का गठन किया। जनवरी, 1957 में बलवन्त राय मेहता समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें ग्रामीण क्षेत्र में तीन-स्तरीय (Three-tiered) स्थानीय शासन संस्थाओं के गठन की सिफारिश की (i) गाँव के स्तर पर ग्राम पंचायत (ii) खण्ड के स्तर पर ब्लाक समिति या पंचायत समिति और (iii) जिले के स्तर पर जिला परिषद। इस प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य शासन-प्रणाली का विकेन्द्रीकरण करना और स्थानीय लोगों की शासन में भागीदारी को बढ़ाना था। इस समिति की सिफारिशों के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना सबसे पहले राजस्थान में 2 अक्टूबर, 1959 को की गयी। 1960 के मध्य तक देश के अधिकांश राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी, किन्तु इनके स्तरों की संख्या, कार्यकाल, संगठन, कार्यों आदि में काफी अन्तर था। अतः दिसम्बर, 1977 में जनता पार्टी सरकार ने इनमें सुधार लाने की दृष्टि से अशोक मेहता समिति का गठन किया। इस समिति ने अगस्त, 1978 में सरकार को अपनी रिपोर्ट सौंपी, जिसमें 132 सुझाव शामिल थे। इसके थोड़े समय पश्चात् जनता पार्टी सरकार का पतन हो गया, जिसके कारण इस समिति द्वारा प्रस्तुत सिफारिशें लागू नहीं हो पायीं। 1986 में राजीव गाँधी सरकार ने पंचायती राज संस्थाओं के पुनरुत्थान के लिए एल.एम. सिंघवी समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देने और इन्हें अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराने की सिफारिश की। इस समिति की सिफारिशों को क्रियान्वित करने की दृष्टि से सरकार ने जुलाई, 1989 में लोक सभा में 64वां

संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। अगस्त 1989 में लोक सभा ने इसे पारित कर दिया, किन्तु राज्य सभा ने इसे नामंजूर कर दिया, जिसके कारण यह विधेयक रद्द हो गया। नवम्बर, 1989 में वी.पी. सिंह सरकार सत्ता में आयी। जून, 1990 में पंचायती राज संस्थाओं को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से मुख्य मन्त्रियों के दो दिवसीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में नए संशोधन विधेयक को प्रस्तुत करने पर सहमति हुई। इसलिए सितम्बर, 1990 में लोक सभा में एक संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया, किन्तु वी. पी. सिंह सरकार के पतन के साथ यह विधेयक भी समाप्त हो गया।

सन् 1991 में नरसिम्हा राव सरकार ने पंचायत राज प्रणाली पर गम्भीरता से विचार किया और इसमें सुधार का संकल्प लिया। पंचायत राज प्रणाली के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से लोक सभा में एक संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया, जिसे लोक सभा ने 22 दिसम्बर, 1992 को पारित कर दिया। इसे राज्य सभा ने अगले दिन अपनी स्वीकृति दे दी। राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने के बाद 24 अप्रैल, 1993 को यह संशोधन विधेयक 73वें संशोधन अधिनियम के रूप में देश में लागू हो गया।

73वें संशोधन अधिनियम (1992) की मुख्य विशेषताएँ (Main Features of 73rd Amendment Act, (1992)

24 अप्रैल, 1993 को लागू 73वें संशोधन अधिनियम (1992) की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा (Constitutional Status to Panchayati Raj Institutions)- 73वें संशोधन अधिनियम द्वारा तीनों स्तर की पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। इस अधिनियम से पहले इन्हें केवल कानूनी दर्जा प्राप्त था, क्योंकि इनका गठन राज्य विधानमण्डलों द्वारा निर्मित अधिनियमों के तहत किया गया था। पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देने के उद्देश्य से संविधान के नौवें भाग के अनुच्छेद 243 से लेकर 243-0 तक और 11वीं अनुसूची में पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित मामले शामिल किए गए हैं।

2. त्रि-स्तरीय संरचना (Three-Tiered Structure)- इस संशोधन अधिनियम में पंचायती राज्य संस्थाओं के त्रि-स्तरीय संगठन की व्यवस्था की गयी है। ये तीन स्तर हैं— (i) गांव स्तर पर ग्राम पंचायत (ii) खण्ड (ब्लाक) स्तर पर पंचायत समिति और (iii) जिला स्तर पर जिला परिषद। किन्तु ऐसे राज्यों में, जिनकी जनसंख्या 20 लाख से कम है, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति की स्थापना नहीं की जाएगी।

3. प्रत्यक्ष चुनाव (Direct Election)- इस संशोधन अधिनियम के तहत तीनों स्तर की पंचायती राज संस्थाओं के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। इसका अभिप्रायः यह हुआ कि ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद के सदस्यों का चुनाव गाँवों में रहने वाले मतदाताओं द्वारा किया जाएगा। इसके लिए प्रत्येक गाँव, खंड एवं जिले को अनेक वार्डों में बांटा जाता है और प्रत्येक वार्ड से ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद के लिए एक-एक सदस्य का चुनाव किया जाता है। ग्राम पंचायत के प्रमुख अर्थात् सरपंच/प्रधान का चुनाव ग्राम सभा के सदस्यों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाएगा, लेकिन पंचायत समिति एवं जिला परिषद के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के चुनाव इनके सदस्यों द्वारा किए जाएँगे और इन सदस्यों में से ही एक सदस्य अध्यक्ष और एक सदस्य उपाध्यक्ष चुना जाएगा।

4. मनोनीत सदस्य (Nominated Members)- इस संशोधन अधिनियम के अनुसार राज्य विधानमण्डल कानून बनाकर निम्नलिखित पदाधिकारियों को पंचायत समिति एवं जिला परिषद में मनोनीत करने की व्यवस्था कर सकता है-

(i) सरपंचों का पंचायत समिति एवं जिला परिषद में मनोनयन

(ii) पंचायत समितियों के अध्यक्षों का जिला परिषद में मनोनयन

(iii) क्षेत्र के विधायकों एवं सांसदों का पंचायत समिति एवं जिला परिषद में मनोनयन।

5. सीटों का आरक्षण (Reservation of Seats)- इस संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत तीनों स्तर की पंचायती राज संस्थाओं में एक-तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित करने की व्यवस्था की गयी है। इसी प्रकार तीनों स्तर की पंचायती यह संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण इनकी जनसंख्या के अनुपात में

करने की व्यवस्था भी गयी है। इन आरक्षित सीटों में से एक-तिहाई सीटें इन्हीं वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित होंगी। इन संस्थाओं में पिछड़े वर्गों के लिए सीटों का आरक्षण राज्य सरकारों द्वारा किए जाने की व्यवस्था भी की गयी है। हरियाणा में पंचायत संस्थाओं में पिछड़े वर्ग के आरक्षण की व्यवस्था कर दी गई है।

6. अवधि (Term)- इस संशोधन अधिनियम के द्वारा तीनों स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं की अवधि पाँच वर्ष तय की गयी है, किन्तु इससे पूर्व भी राज्य सरकार इन्हें भंग कर सकती है। ऐसी स्थिति में छः महीने के अन्दर इनका चुनाव कराना अनिवार्य कर दिया गया है। यदि किसी पंचायती राज संस्था का कार्यकाल सिर्फ छः महीने बचा हो और इस दौरान उसको भंग कर दिया जाए, तो उसका चुनाव अन्य पंचायती राज संस्थाओं के साथ किया जाएगा।

7. पंचायतों का उत्तरदायित्व (Responsibilities of Panchayats)- इस संशोधन अधिनियम के द्वारा राज्य विधानमण्डलों को यह दायित्व सौंपा गया है कि वे 11वीं अनुसूची में शामिल 29 विषयों को पंचायती राज संस्थाओं को हस्तान्तरित करें, ताकि पंचायती राज संस्थाएँ उपयुक्त कानून बनाकर आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय सम्बन्धी योजनाओं को लागू कर सकें और ग्रामीण विकास में योगदान दे सकें।

8. वित्त आयोग के लिए प्रावधान (Provision for Finance Commission)- इस संशोधन अधिनियम के द्वारा पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति की समीक्षा के लिए वित्तीय आयोग के गठन की व्यवस्था की गयी है। राज्यपाल द्वारा पाँच वर्ष के लिए वित्तीय आयोग की नियुक्ति की जाएगी। यह आयोग अपनी रिपोर्ट राज्यपाल को प्रस्तुत करेगा, जिसे राज्यपाल राज्य विधानमण्डल के समक्ष रखेगा। वित्तीय आयोग निम्नलिखित विषयों के बारे में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करेगा-

- (i) राज्य सरकार एवं पंचायती राज संस्थाओं के मध्य करों का बंटवारा।
- (ii) पंचायती राज संस्थाओं के तीनों स्तरों पर करों का बंटवारा।
- (iii) पंचायती राज संस्थाओं द्वारा लिए जाने वाले करों एवं शुल्कों का निर्धारण।
- (iv) राज्य की संचित निधि से पंचायती राज संस्थाओं को दिए जाने वाले अनुदान।
- (v) अन्य विषय, जो इसे राज्यपाल द्वारा सौंपे जाएँ।

9. राज्य निर्वाचन आयोग की व्यवस्था (Provision for State Election Commission)- इस संशोधन अधिनियम द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव कराने के लिए राज्य निर्वाचन आयोग की व्यवस्था की गयी है।

10. अधिनियम विशेष क्षेत्रों में लागू नहीं (No Implementation of the Act in Specific Areas)- 73वाँ संशोधन अधिनियम (1992) नागालैण्ड, मिजोरम, मेघालय एवं मणिपुर राज्यों के पर्वतीय क्षेत्रों और पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग पर्वतीय क्षेत्र पर लागू नहीं होता है, क्योंकि इन क्षेत्रों को इसके दायरे से बाहर रखा गया है। संसद एवं राज्य विधानमण्डल दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके इस अधिनियम का दायरा बढ़ा सकती हैं।

11. निर्वाचन सम्बन्धी कुछ विवाद न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के बाहर (Certain Election Disputes Out of the Jurisdiction of Courts)- 73वें संशोधन अधिनियम के तहत निर्वाचन सम्बन्धी कुछ विशेष मामलों का निबटारा राज्य सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी द्वारा किया जाएगा। अन्य शब्दों में, निर्वाचन सम्बन्धी कुछ मामलों में न्यायालय हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इन मामलों में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन एवं निर्वाचन क्षेत्रों में सीटों का बंटवारा शामिल होगा।

12. 11वीं अनुसूची (11th Schedule)- इस संशोधन अधिनियम के द्वारा संविधान में 11वीं अनुसूची जोड़ी गयी है। इस अनुसूची में 29 विषय शामिल हैं। इस अनुसूची में अंकित विषयों पर कानून बनाने की शक्ति पंचायती राज संस्थाओं को हस्तान्तरित करने का दायित्व राज्य सरकारों का होगा। इस अनुसूची में शामिल कुछ विषय हैं- कृषि, भूमि सुधार कानून, लघु सिंचाई एवं जल प्रबन्ध, पशुपालन एवं मुर्गीपालन मत्स्य, सामाजिक वानिकीकरण, लघु उद्योग, खादी ग्राम उद्योग, ग्रामीण

आवास , पेयजल , इंधन एवं चारा , सड़कें, जल मार्ग एवं संचार के माध्यम , विद्युत का वितरण , गैरपारम्परिक ऊर्जा , गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम , शिक्षा प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूल , तकनीकी प्रशिक्षण एवं व्यावसायिक शिक्षा , प्रौढ़ एवं अनौपचारिक शिक्षा, पुस्तकालय , सांस्कृतिक गतिविधियाँ , बाजार एवं मेले , स्वास्थ्य एवं सफाई , परिवार कल्याण , महिला एवं बाल विकास , कमजोर वर्गों, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों का कल्याण , सामुदायिक सम्पत्तियों का रख-रखाव , समाज कल्याण , लघु वन उद्योग आदि।

बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिशों के आधार पर पंचायत राज प्रणाली को त्रि-स्तरीय (Three-tier) प्रणाली बनाया गया था। इसमें गाँव के स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड के स्तर पर पंचायत समिति और जिले के स्तर पर जिला परिषद को स्थापना की सिफारिश की गयी थी। 73वें संशोधन अधिनियम, 1992 में यह व्यवस्था कायम रखी गयी है। यहाँ इन तीनों स्तरों पर स्थापित पंचायती राज संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

गाँव ग्राम सभा एवं ग्राम पंचायत (Gram Sabha and Gram Panchayat)

गाँव के स्तर पर जिन पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना की गयी है, उनका विवरण इस प्रकार है-

1. ग्राम सभा (Gram Sabha)- ग्राम सभा, एक प्रकार से गाँव की विधानपालिका होती है। गाँव के सभी लोग, जिसका नाम विधान सभा की मतदाता सूची में होता है, ग्राम सभा के सदस्य होते हैं। जिस गाँव की जनसंख्या 200 या इससे अधिक होती है, उसकी एक ग्राम सभा होती है, लेकिन अगर किसी गाँव की जनसंख्या 200 से कम हो. तो उसको दूसरे गाँव की ग्राम सभा के साथ जोड़ दिया जाता है। ग्राम पंचायत ग्राम सभा की कार्यकारिणी होती है, जो ग्राम सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। ग्राम पंचायत अपनी सत्ता एवं शक्ति ग्राम सभा से प्राप्त करती है।

2. ग्राम पंचायत (Gram Panchayat)- ग्राम पंचायत एक प्रकार से ग्राम सभा की कार्यकारिणी एवं प्रमुख प्रशासनिक इकाई है। इस समय देश में 2,25,832 ग्राम पंचायतें हैं। किसी ग्राम पंचायत का अस्तित्व एवं आकार उस गाँव की जनसंख्या पर निर्भर करता है। ग्राम पंचायत में एक सरपंच एवं कुछ पंच शामिल होते हैं। गाँव की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक गाँव को कुछ वार्डों में बाँटा जाता है और प्रत्येक वार्ड से एक पंच निर्वाचित किया जाता है। ग्राम पंचायत के सरपंच एवं पंचों का चुनाव ग्राम सभा के सदस्यों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।

कार्यकाल (Tenure)- ग्राम पंचायत का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है, किन्तु इसको सक्षम अधिकारी द्वारा पहले भी भंग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में छः महीने में इसका चुनाव कराना अनिवार्य है।

कार्य (Functions)-ग्राम पंचायत मुख्य रूप से दो प्रकार के कार्य करती है-

(i) न्यायिक कार्य एवं (ii) प्रशासनिक एवं विकास संबंधी कार्य।

(i) न्यायाधिकार कार्य (Judicial Functions)- ग्राम पंचायत को निम्नलिखित न्यायिक कार्य करती है।

1. यह गाँव के झगड़ों में निर्णय देती है।

2. यह अपराधी पर 1000 रुपए तक जुर्माना लगा सकती है।

3. यह ग्राम में होने वाले छोटे-छोटे अपराधों जैसे- जुआ खेलना , कम तोलना , वृक्षों को नुकसान पहुँचाना आदि के लिए दण्ड दे सकती है।

4. यह गाँव की सम्पत्ति की रक्षा करती है।

5. यह गाँव के अन्दर समाज-विरोधी कार्यों को रोकती है।

(ii) **प्रशासनिक एवं विकास कार्य (Administrative and Development Functions)**- ग्राम पंचायत के प्रशासनिक एवं विकास संबंधी कार्यों में निम्नलिखित कार्य शामिल हैं-

1. कृषि का विकास करना।
2. उद्योगों का विकास करना।
3. सड़कें एवं गलियाँ बनाना।
4. शिक्षा, स्वास्थ्य एवं खेल का विकास करना।
5. मनोरंजन का विकास करना एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ाना
6. फसलों की देख-रेख के लिए दवाइयाँ एवं खाद उपलब्ध कराना।
7. नई कृषि एवं उद्योग तकनीकी को गाँव तक लाना।
8. सरकारी कार्यक्रमों को गाँव में लागू करना।
9. गाँव में पशु-कल्याण केन्द्र स्थापित करना।
10. सफाई के प्रति ग्रामवासियों में आगरूकता पैदा करना।
11. गाँव के चौकीदार की नियुक्ति करना।

आय के साधन (Source of Income)- ग्राम पंचायतों की आय के निम्नलिखित स्रोत हैं-

1. राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान, 2. राजस्व में हिस्सा,
3. बिक्री से आय, 4. मछली तालाब से आय, 5. ग्राम पंचायत की अपनी सम्पत्ति, 6. लोगों की ओर से दान,
7. गृह कर (House Tax), 8. रजिस्ट्री फीस से आदमनी, 9. विभिन्न प्रकार के कर, 10. जुर्माने से प्राप्त धन।

पंचायत समिति (Panchayat Samiti)

पंचायत राज प्रणाली में पंचायत समिति ब्लाक स्तर की संस्था है, जो ग्राम पंचायत एवं जिला परिषद् के मध्य कड़ी का कार्य करती है। यह एक मध्य-स्तरीय प्रशासनिक संस्था है। अलग-अलग राज्यों में इसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। इसे उत्तर प्रदेश में क्षेत्र समिति, हरियाणा में पंचायत समिति, गुजरात में तालुका समिति और मध्य प्रदेश में जन परिषद् कहा जाता है।

पंचायत समिति के कुछ सदस्य प्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण लोगों द्वारा चुने जाते हैं, जिनकी संख्या 10 - 30 तक हो सकती है। जिस पंचायत समिति के क्षेत्र की जनसंख्या 40,000 से अधिक होती है, उसमें 30 तक सदस्य हो सकते हैं। पंचायत समिति के सम्पूर्ण क्षेत्र को वार्डों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक वार्ड से एक सदस्य प्रत्यक्ष रूप में ग्रामीण मतदाताओं द्वारा चुना जाता है। पंचायत समिति के क्षेत्र से लोक सभा एवं विधान सभा के लिए चुने गए प्रतिनिधि भी इस समिति के सदस्य होते हैं। पंचायत समिति के क्षेत्र के उपमंडल अधिकारी एवं खण्ड विकास अधिकारी पंचायत समिति के पदेन (Ex-officio) सदस्य होते हैं।

अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष (Chairman and Vice-Chairman)- पंचायत समिति के सदस्य अपने में से एक अध्यक्ष एवं एक उपाध्यक्ष चुनते हैं। पंचायत समिति का अध्यक्ष इसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है। उसकी अनुपस्थिति में यह कार्य

उपाध्यक्ष द्वारा किया जाता है।

कार्यकाल (Tenure)- पंचायत समिति का कार्यकाल पाँच वर्ष है, किन्तु पाँच वर्ष से पहले भी सक्षम प्राधिकारी द्वारा इसे भंग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में छः माह में इसका चुनाव कराना आवश्यक है।

पंचायत समिति के कार्य (Functions of Panchayat Samiti)- पंचायत समिति के निम्नलिखित कार्य होते हैं-

1. यह अपने क्षेत्र की ग्राम पंचायतों पर प्रशासनिक नियन्त्रण बनाए रखती है।
2. यह अपने क्षेत्र की ग्राम पंचायतों में तालमेल स्थापित करती है।
3. यह अपने क्षेत्र की ग्राम पंचायतों की समस्याओं को सुनती है।
4. यह अपने क्षेत्र की ग्राम पंचायतों को देखभाल करती है।
5. यह अपने क्षेत्र में कृषि, उद्योग, पशुपालन एवं अन्य मामलों में विकास सुनिश्चित करती है।
6. यह अपने क्षेत्र में सड़कों, नहरों एवं पुलों का निर्माण करती है।
7. वह अपने क्षेत्र में खेल, मनोरंजन एवं अन्य प्रकार की सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन करती है। खाद, बिजली, दवाइयाँ आदि का प्रबन्ध करती है।
8. यह अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा करती है।
9. यह अपने क्षेत्र की ग्राम पंचायतों की वित्तीय स्थिति को नियन्त्रित करती है।
10. यह सरकार से मिलने वाला सहायता एवं योजनाएँ ग्राम पंचायतों तक पहुंचाती है।

आय के स्रोत (Sources of Income)- पंचायत समिति की आय के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं-

1. स्थानीय कर। 2. मंडियों से प्राप्त शुल्क।
3. क्षेत्र में लगने वाले पशु मेले एवं अन्य मेलों से होने वाली आय।
4. क्षेत्र के विश्राम घरों से आय। 5. पंचायत समिति की अपनी सम्पत्ति से आय।
6. राज्य सरकार से मिलने वाला अनुदान। 7. राज्य के व्यक्तियों द्वारा दिया गया दान।
8. राज्य सरकार से मिलने वाली विभिन्न योजनाओं के लिए आर्थिक सहायता।

जिला परिषद (Zila Parishad)

जिला परिषद् पंचायत राज प्रणाली के शीर्ष पर स्थित संस्था है। यह जिला स्तर की संस्था होती है। इस नाते प्रत्येक जिले में एक जिला परिषद् होती है। जिला परिषद् का क्षेत्र एवं दायित्व अधिक होते हैं।

रचना (Composition)- जिला परिषद् में कई प्रकार के सदस्य शामिल होते हैं। इसमें अधिकतर निर्वाचित सदस्य होते हैं, जिनकी संख्या 10 - 30 तक होती है। जिला परिषद् के सदस्यों के चुनाव हेतु सम्पूर्ण जिले को जनसंख्या के आधार अनेक वार्डों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक वार्ड से एक सदस्य ग्रामीण जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। इस चुनाव में

प्रत्येक वयस्क मतदाता, जिसका नाम मतदाता सूची में शामिल होता है, हिस्सा लेता है। इस प्रकार जिला परिषद् के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होता है। जिला परिषद् में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लोगों के लिए स्थान आरक्षित होते हैं। साथ ही महिलाओं के लिए भी इसके एक-तिहाई स्थान आरक्षित होते हैं। इसके अलावा, जिला परिषद् के क्षेत्र में आने वाले लोक सभा एवं विधान सभा के सदस्य भी जिला परिषद् के सदस्य होते हैं। इसके साथ-साथ जिले की पंचायत समितियों के अध्यक्ष जिला परिषद् के सदस्य होते हैं। जिले का डिप्टी कमिश्नर अथवा जिला मजिस्ट्रेट जिला परिषद् का पदेन सदस्य होता है।

सचिव (Secretary)-जिला परिषद् की मांग पर राज्य सरकार द्वारा इसका एक सचिव नियुक्त किया जाता है। यह जिला परिषद् का मुख्य प्रशासकीय अधिकारी होता है और इसका जिला परिषद् के समस्त कर्मचारियों पर प्रशासनिक नियन्त्रण होता है। सचिव जिला परिषद् का बजट तैयार करता है और इसे जिला परिषद् की बैठक में प्रस्तुत करता है। वह सरकार की ओर से धन एवं अनुदान प्राप्त करता है।

मुख्य कार्यकारी अधिकारी (Chief Executive Officer)- जिला परिषद् में एक मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। वह राज्य सरकार द्वारा अपने अधिकारियों में से चुना जाता है और उसकी स्थिति डिप्टी कमिश्नर के समान होती है। वह हर प्रकार के विवादों एवं कार्यक्रमों के लिए उत्तरदायी होता है, इसलिए समस्त विभाग कृषि, पशुपालन, शिक्षा आदि-उसके अधीन होते हैं और सभी कर्मचारियों पर उसका प्रशासनिक नियन्त्रण होता है। इस प्रकार जनता के द्वारा चुने गए पार्षदों एवं शासन के आपसी सहयोग से जिले का विकास किया जाता है।

जिला परिषद् के कार्य (Functions of Zila Parishad)- जिला परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. जिले की पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों की देखभाल करना और इन पर नियन्त्रण रखना।
2. अपने अधीन क्षेत्र के विकास के लिए पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों को आवश्यक निर्देश एवं सहायता प्रदान करना।
3. अपने अधीन क्षेत्र की सभी पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों में समन्वय स्थापित करना।
4. अपने अधीन क्षेत्र की पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों की समस्याओं को सुनना और उनका उचित प्रबन्धन करना।
5. सरकार एवं जिला स्तर पर ग्रामीण क्षेत्र में काम करने वाली स्थानीय शासन संस्थाओं के मध्य कड़ी का काम करना।
6. पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों के बजट पर नियन्त्रण रखना।
7. राज्य सरकार से विभिन्न योजनाओं के लिए तकनीकों एवं आर्थिक सहायता लेकर पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों तक पहुँचाना।
8. सम्पूर्ण जिले के विकास के लिए कृषि, उद्योग, पशुपालन, बिजली एवं सिंचाई सुविधाओं को विकसित करना।
9. शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन एवं सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक कदम उठाना।
10. जिले का भौतिक विकास करना अर्थात् सड़कें, यातायात एवं जन संचार की सुविधाओं का विकास करना।
11. अपने अधीन क्षेत्र में सरकार की नीतियों को सफलतापूर्वक लागू करवाना।
12. पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों को आवश्यक परामर्श देना।

आय के स्रोत (Sources of Income)- जिला परिषद् को जिले के विकास के लिए धन की आवश्यकता होती है, जिला परिषद् के आय के प्रमुख स्रोत इस प्रकार हैं-

1. केन्द्र एवं राज्य सरकार द्वारा किया जाने वाला अनुदान।
2. अखिल भारतीय सस्थाओं के विकास कार्यों के लिए दिया जाने वाला अनुदान।
3. संग्रहित राजस्व में जिला परिषद् का अपना हिस्सा।
4. जिला परिषदों द्वारा प्रशासनिक ट्रस्टों से आय।
5. पंचायत समितियों से की गयी प्राप्ति।
6. जिला परिषद् की अपनी सम्पत्ति से होने वाली आय।
7. जिला परिषद् सरकार से ऋण भी ले सकती है।
8. विभिन्न प्रकार के जुर्माने एवं करों से प्राप्त होने वाली आय।

पंचायती राज संस्थाओं की कार्य प्रणाली में दोष (Defects in the Working of Panchayat Raj Institutions)

आज देश में पंचायत राज संस्थाएँ समुचित रूप से कार्य नहीं कर पा रही है, क्योंकि

इनकी कार्य-प्रणाली (Working) में अनेक दोष मौजूद हैं; जैसे-

1. जनता की उदासीता (Apathy of People)- गाँव के शिक्षित व्यक्ति इन संस्थाओं में अधिक रुचि नहीं लेते हैं और स्थानीय शासन के बारे में इनका रवैया उदासीन ही रहता है। अधिकतर मामलों में ग्राम सभा की बैठकें वास्तव में होती ही नहीं हैं, और इन्हें ऐसे ही कागजों पर दिखा दिया जाता है।
2. धन का अभाव (Lack of Funds)- पंचायती राज संस्थाओं की आर्थिक स्थिति इतनी सुदृढ़ नहीं होती है कि ये संतोषजनक ढंग से अपना कार्य कर सकें। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रतापूर्वक धन इकट्ठा नहीं कर सकती हैं। वैसे भी ग्रामीण जनता अधिक कर देने की स्थिति में नहीं होती है, तो राज्य सरकारें इन्हें नियमित अनुदान नहीं देती हैं। इनकी आय के साधन इतने नहीं हैं कि ये अपने कार्यों को ठीक ढंग से सम्पन्न कर पाएँ। धन की कमी के कारण ये संस्थाएँ ग्रामीण क्षेत्रों के विकास का कार्य पूरा नहीं कर पाती हैं।
3. अयोग्य व्यक्तियों का चुनाव (Election of Incapable People) - प्रायः पंचायती राज संस्थाओं में अधिकतर अयोग्य व्यक्ति चुने जाते हैं। गाँव के अधिकतर वे व्यक्ति इनके सदस्य बन जाते हैं, जो सही अर्थों में शिक्षित नहीं होते हैं, क्योंकि ग्रामीण जनता अपने मत का सही ढंग से प्रयोग नहीं कर पाती।
4. निष्पक्षता का अभाव (Lack of Impartiality)- पंचायती राज संस्थाएँ अपना कार्य करते समय भेदभाव की भावना रखती हैं, क्योंकि इनके सदस्य जाति एवं सम्प्रदाय के आधार पर चुने जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप लोगों का इनमें विश्वास नहीं रहता है। इनके सदस्य पूर्ण निष्पक्ष भाव से काम नहीं कर पाते हैं।
5. दलबन्दी की भावना (Partisan Spirit)- यह बात सही है कि पंचायती राज संस्थाओं में राजनीतिक दलों का कोई मुख्य स्थान नहीं होता है, क्योंकि इन संस्थाओं का संबंध एक गाँव या क्षेत्र से होता है, जिसमें दलगत मतभेद स्पष्ट नहीं होते हैं, किन्तु राजनीतिक दल इन संस्थाओं की कार्य प्रणाली को न केवल प्रभावित करते हैं, बल्कि इनके कार्यों में हस्तक्षेप भी करते हैं। उत्तर प्रदेश जैसे कई राज्यों में इन संस्थाओं के चुनाव दलगत आधार पर होते हैं।
6. अयोग्य कर्मचारी (Inefficient Officials)- पंचायती राज संस्थाओं में प्रायः अयोग्य कर्मचारी होते हैं। इन संस्थाओं में कार्य करने वाले कर्मचारियों के वेतन एवं भत्ते कम होते हैं, इसलिए योग्य व्यक्ति इनकी ओर आकर्षित नहीं होते हैं। इन्हें अपने कार्यों के बारे में अधिक जानकारी नहीं होती है।

7. राज्य सरकार द्वारा हस्तक्षेप (Interference by State Government)- राज्य सरकारें पंचायती राज संस्थाओं के कार्यों में बहुत अधिक हस्तक्षेप करती हैं, जिसके कारण ये अपना कार्य ठीक से नहीं कर पाती हैं। संवैधानिक दर्जा मिलने के बाद भी पंचायती राज संस्थाएँ राज्य सरकारों के अधीन हैं, जो इन्हें समय-समय पर आदेश देती रहती हैं। राज्य सरकारें इनके पदाधिकारियों को निलम्बित कर देती हैं

8. जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद (Casteism and Communalism)- भारत में सभी राज्यों में पंचायत राज संस्थाएँ जाति एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर कार्य करती हैं। इनको जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद ने इतना अधिक जकड़ रखा है कि ये स्वतंत्र रूप से अपना कार्य नहीं कर पा रही हैं।

पंचायत राज प्रणाली का महत्त्व (Significance of Panchayat Raj System)

पंचायत राज प्रणाली को सभी कालों में महत्त्वपूर्ण समझा गया है। यहां तक कि ब्रिटिश शासन में भी लॉर्ड रिपन ने स्थानीय संस्थाओं के महत्त्व को समझते हुए इनके गठन एवं अधिकारों के लिए आवश्यक कदम उठाए थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गाँधी जी के विचारों का सम्मान करते हुए राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में ग्राम पंचायतों को सुदृढ़ बनाने की बात कही गयी है। गाँधी जी स्वराज एवं स्थानीय शासन के माध्यम से लोकतन्त्र को सुदृढ़ करना चाहते थे। कांग्रेस सरकार ने स्थानीय शासन के महत्त्व को समझते हुए इसका प्रारूप निश्चित करने के लिए 1956 में बलवन्त राय मेहता समिति गठित की थी। बाद में 1978 में इसी विषय पर अशोक मेहता समिति गठित की गयी। फिर भी, पंचायत राज संस्थाएँ प्रभावकारी तरीके से कार्य नहीं कर पायीं। इन संस्थाओं को प्रभावशाली बनाने के लिए सरकार द्वारा 73वां संशोधन अधिनियम (1992) लाया गया। इन संस्थाओं में संगठनात्मक सुधार किए गए और इनकी शक्तियों एवं क्षेत्रों में विस्तार किया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत इन संस्थाओं में महिलाओं एवं कमजोर वर्गों के सदस्यों को उचित प्रतिनिधित्व दिया गया। इस संशोधन अधिनियम द्वारा इन संस्थाओं को और अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए इन्हें संवैधानिक दर्जा दिया गया।

निम्नलिखित बातों से हमें पंचायती राज संस्थाओं का महत्त्व पता चलता है-

1. इनसे लोकतन्त्र सुदृढ़ होता है और ग्रामीण लोगों को लोकतन्त्र का प्रशिक्षण मिलता है।
2. इनसे ग्रामीण लोगों में स्वतन्त्रता की भावना पैदा होती है तथा उनका आत्म-विश्वास बढ़ता है।
3. इनसे ग्रामीण लोगों की मूल आवश्यकताओं की, उनके अपने सहयोग एवं भागीदारी से पूर्ति हो जाती है।
4. इनके अन्तर्गत सामूहिक मामलों में प्रशासन, जनता एवं राजनीतिज्ञ साथ-साथ कार्य करते हैं।
5. इन संस्थाओं में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी से नौकरशाही पर नियन्त्रण बना रहता है।
6. इनके माध्यम से सरकार की नीतियाँ सीधे जनता तक पहुँचती हैं, जिससे क्षेत्र का विकास होता है।
7. इनके कारण ग्रामीण क्षेत्रों में आत्म निर्भरता की भावना का विकास होता है।
8. इनके कारण आपसी सहयोग से क्षेत्रीय समस्याएँ सुलझ जाती हैं।
9. इनके द्वारा अनेक प्रकार के छोटे-छोटे झगड़े गाँव के स्तर पर ही निपटा दिए जाते हैं, जिससे मुकदमेबाजी नहीं बढ़ती है।

